11.5.7.5. प्रधान कथा के सूचक नामों से प्राप्त वक्रता :

इसका अर्थ है– प्रबंधकाव्य या किसी रचना (काव्य, नाटक आदि) के नामकरण द्वारा कथा के मूल तत्त्व को संकेतित करने के माध्यम से उत्पन्न वक्रता। 'अभिज्ञानशाकुंतल', 'मेघदूत', 'मुद्राराक्षस', 'मृच्छकटिक', 'गोदान', 'कफन', 'हार की जीत' आदि ऐसे शीर्षक (नाम) हैं जिनसे रचना की कथा के मूल तत्त्व का कुछ-कुछ संकेत मिल जाता है जिससे पाठकों में रचना के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वे रचनाकी ओर आकृष्ट होते हैं। कुंतक की उपर्युक्त वक्रता आज अत्यंत प्रासंगिक है। 'नामकरण की सार्थकता' के साथ इस वक्रता को जोड़कर देखा जा सकता है।

नामकरण कुछ इस प्रकार का होना चाहिए कि उसमें पूरी रचना संकेत रूप के स्पंदित होती है। यहीं 'नामकरण' की वक्रता है। जिस 'नामकरण' (शीर्षक) में यह विशेषता नहीं होती, वह नामकरण शुष्क और अभिधात्मक होता है; जैसे– 'प्रियप्रवास', 'यशोधरा' आदि।

11.5.7.6. एक ही विषय से जुड़ा विलक्षण प्रबंधत्व :

एक ही विषय से जुड़े अनेक प्रबंधों की रचना होती है जिनमें रचनाकारों की दृष्टि भिन्नता के चलते भाव-भाषा के स्तर पर अंतर आ जाता है। सहृदय को एक ही विषय पर लिखित (रचित) रचनाओं के अध्ययन से एक प्रकार का तुलनात्मक सुख की प्राप्ति होती है। संस्कृत में 'रामायण' पर आधृत अनेक रचनाएँ मिलती हैं जिनमें रचनाओं की दृष्टि भिन्नता के कारण विलक्षणता आ गई है। यहीं विलक्षणता वक्रता है। ['रामायण' पर आधृत संस्कृत ही विभिन्न रचनाएँ हैं : 'वीरचरितम्', 'बालरामायण', 'उत्तरचरितम्', 'प्रतिभा नाटक', 'रघुवंशम्', 'रामचरितमानस', 'रामचंद्रिका', 'साकेत, 'अरुण रामायण', 'राम की शक्तिपूजा' आदि।

11.6. सारांश

वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेदों के कुल 38 उपभेद हैं। ये सारी वक्रोक्तियाँ अकेले रहकर अथवा एक से अधिक एक साथ मिलकर काव्य-सौंदर्य उत्पन्न करती हैं। जहाँ एक से अधिक वक्रोक्तियाँ मिलती हैं, वहाँ काव्य की शोभा और अधिक हो जाती है। कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के अंतर्गत ही समस्त बाह्य और आंतरिक सौंदर्य समाहित हो जाता है। देखें :

- **वर्णविन्यास वक्रता के अंतर्गत** : अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार, उपनागरिका वृत्ति तथा वैदर्भी रीति।
- **वाक्यवक्रता के अंतर्गत** : उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार तथा अलंकार ध्वनि।
- **पर्यायवक्रता के अंतर्गत** : 'परिकार' तथा इसके सदृश और दूसरे अलंकार।
- **रूढ़िवैचित्र्य वक्रता के अंतर्गत** : अर्थांतर संक्रमितवाच्यध्वनि, अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि आदि।
- **पद परार्धवक्रता के अंतर्गत** : 'ध्वनि' के विभिन्न उपभेद, जैसे–काल, कारक, वचन, उपसर्ग, निपात आदि से संबद्ध उपभेद।

11.6.1 कुंतक अलंकार संप्रदाय, रीति-संप्रदाय, ध्वनि-संप्रदाय और रस-संप्रदाय से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने वामन के रीति सिद्धांतों को अस्वीकृत करते हुए शेष संप्रदायों के काव्य-तत्त्वों को अपने वक्रोक्ति सिद्धांत में समाहित कर लिया। अलंकार के प्रति कुंतक का दृष्टिकोण भामह, दण्डी, उद्‌भट आदि

अलंकारवादियों से सर्वथा अलग था। वे इस संदर्भ में आनंदवर्धन के कथन को स्वीकार करते हैं। कुंतक अलंकार के व्यापक अर्थ को स्वीकार करते हैं। वे 'वक्रोक्ति' को एक अपूर्व अलंकार मानते हैं– ''काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वोविधीयते।''

कुंतक 'ध्वनि' से ज्यादा प्रभावित थे। उन्होंने 'वक्रोक्ति' को 'विचित्रा अमिधा' कहा है। इससे लगता है कि वे 'ध्वनि सिद्धांत' से अतिशय प्रभावित थे। उनका उद्देश्य ही था– ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति को प्रतिष्ठित करना।

कुंतक ने रस की महत्ता को खुले हृदय से स्वीकार किया है। वे 'रस' के संबंध में कहते हैं :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तदविदाम्।
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते।। (वक्रोक्तिजीवितम्, 1.5)

वे 'रस' को काव्य का अमृत तथा अंतश्चमत्कार का वितानक मानते है। उनकी दृष्टि में 'रस' सर्वप्रमुख काव्यप्रयोजन है। उन्होंने 'रसवत् अलंकार' को सारे अलंकारों का आधार (जीवितम्) माना है तथा 'रस' की उत्कृष्टता की घोषणा की है। 'प्रकरणवक्रता' एवं 'प्रबंध वक्रता' में रस की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने काव्य का साधनभूत तत्त्व (जीवितम्) 'वक्रोक्ति' को ही माना है। अर्थात्, वक्र उक्ति ही काव्य की शोभा, सौंदर्य तथा रसवत्ता की आधार है। वे कहते हें कि उक्ति की वक्रता अथवा विच्छित्ति ही वक्रोक्ति है। इसी व्यावर्तक धर्म (अलग करनेवाला तत्त्व) के आधार पर काव्य व्यवहार में आनेवाले कथनों और शास्त्रीय प्रतिपादनों से भिन्न होता है। काव्य में चारुत्व, सौंदर्य, रसवत्ता आदि वक्रोक्ति के कारण ही आते हैं।

11.6.2 महत्ता का निरूपण एवं सारांश

वक्रोक्ति सिद्धांत को वाद के आचार्यों ने मान्यता नहीं दी। इसका मुख्य कारण था 'ध्वनि' एवं 'रस' संप्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धांतों की जैसी वैज्ञानिक व्यवस्था दी, शायक वैसी व्यवस्था कुंतक नहीं कर पाए। पर, यह कहने में संकोच नहीं किया जाना चाहिए कि 'वक्रोक्ति' को अलंकार के स्तर से ऊपर उठकर उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तुत करने की जो तर्कपूर्ण पद्धति आचार्य कुंतक ने अपनाई है, वह सर्वथा सराहनीय और श्लाधनीय है। यदि कुंतक यह कहते हैं कि कथन की वक्रता, यानी विशिष्ट शैली और विच्छित्ति (भंगिमा) की 'वक्रोक्ति' है, तो वे काव्य में रमणीय होने की तात्त्विकता की खोज कर रहे होते हैं। कुंतक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तुत तो किया पर वे इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर पाए। इसका मूल कारण है उनका इसे (वक्रोक्ति को) आंतरिकता के स्तर तक हमें जाने में विफल होना। अर्थात्, कंतक की 'वक्रोक्ति' साधन होने के साथ पर्याप्त विशद एवं विस्तृत होने के बावजूद उतना आंतरिक नहीं है। इस सिद्धांत को उन्होंने प्रायः बाह्य स्तर पर ही सुव्यवस्थित किया है। वे 'अलंकारध्वनि' (आनंदवर्धन), अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि' (आनंदवर्धन) एवं 'उपचार वक्रता' का अन्तर्भाव पद पूर्ववक्रता के अंतर्गत करते हैं। 'पद पूर्वार्ध' बाह्यपरक है। आंतरिकता से इसका संबंध नहीं है। 'मैं राम हूँ, सब कुछ सहूँगा, (रामोऽस्मि सर्व सहे) में 'राम' का वक्रार्थ (व्यंग्यार्थ-आनंदवर्धन की दृष्टि में) है– राक्षसों का निहंता, प्रजापालक तथा आदर्श नृप, पर कुंतक इस आंतरकि अर्थ को 'पदपूर्वार्धवक्रता' जैसे बाह्यपद नाम से अभिहित करते हैं। तात्पर्य यह कि कुंतक एक तरफ 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा (जीवित) कहते हैं, तो दूसरी तरफ इसका विश्लेषण सर्वथा कलापक्षीय संदर्भ में करते

हैं। इस तरह कुंतक का यह सिद्धांत (वक्रोक्ति सिद्धांत) रीति-सिद्धांत (वामन) और अलंकार-सिद्धांत (भामह-दण्डी) के समान ही काव्य के कलापक्ष का ही उद्‌घाटन करता है, उसकी आंतरिकता का स्पर्श नहीं कर पाता।

वास्तविकता यह है कि 'वक्रउक्ति' काव्य नहीं है, यह काव्य की साधन मात्र है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल यह सही कहते हैं कि वक्र उक्ति (वक्रोक्ति) ही काव्य नहीं है; वक्र उक्ति तभी काव्य हो सकती है जब वह भाव से प्रेरित हो। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धांत के माध्यम से काव्यकला का विशद, गहन, विस्तृत तथा व्यवस्थित विवेचन किया है। यह भारतीय सौंदर्यशास्त्र में एक नई पद्धति को उद्‌घाटित करता है। काव्य के लिए कला-पक्ष भी अनिवार्य होता है, पर केवल इसी से काव्य-सर्जना नहीं होती; काव्य-सर्जना के लिए भाव एवं कला दोनों का एक-दूसरे में अंतर्भाव होना अनिवार्य है। कुंतक ने इस तथ्य की अवहेलना की, इसीलिए आगे के आचार्यों ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत नहीं किया।

प्रो० (डॉ०) गणेश प्रसाद

11.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आचार्य कुंतक के काव्य-सिद्धांत का नाम है :
   (क) औचित्य-सिद्धांत (ख) वक्रोक्ति-सिद्धांत
   (ग) ध्वनि-सिद्धांत (घ) अलंकार-सिद्धांत
2. कुंतक के अनुसार 'वक्रोक्ति' के प्रमुख भेद हैं :
   (क) छह (ख) बत्तीस (ग) बारह (घ) चौवालीस
3. आनंदवर्धन के काव्य-सिद्धांत का नाम है :
   (क) अलंकार सिद्धांत (ख) वक्रोक्ति सिद्धांत
   (ग) ध्वनि सिद्धांत (घ) रस-सिद्धांत
4. रीति-सिद्धांत के प्रवर्त्तक हैं :
   (क) क्षेमेंद्र (ख) अभिनवगुप्त (ग) विश्वनाथ (घ) वामन
5. आचार्य विश्वनाथ किस काव्य-सिद्धांत को मानते हैं ?
   (क) रस-सिद्धांत (ख) रीति-सिद्धांत
   (ग) औचित्य-सिद्धांत (घ) ध्वनि-सिद्धांत

उत्तर– 1. (ख), 2. (क), 3. (ग), 4. (घ), 5. (क)।

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. 'वक्रोक्ति' सिद्धांत के मूल तत्त्व की चर्चा करें।
2. 'वक्रोक्ति' सिद्धांत के प्रमुख भेदों का उल्लेख करें।
3. 'वक्रोक्ति' सिद्धांत में वाक्य-वक्रता पर प्रकाश डालें।
4. 'प्रबंध-वक्रता' से क्या समझते हैं ? स्पष्ट करें।
5. 'उपचार-वक्रता' का परिचय दें।

6. 'प्रकरण-रस-वक्रता' से क्या समझते हैं ? स्पष्ट करें।
7. 'वक्रोक्ति' सिद्धांत की महत्ता पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

□ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. वक्रोक्ति-सिद्धांत के प्रमुख भेदों की सोदाहरण चर्चा करें।
2. प्रवरण-वक्रता के विभिन्न भेदों पर प्रकाश डालें। प्रबंध काव्य में इसकी महत्ता का निरूपण करें।

11.9 सहायक ग्रंथ

1. डॉ० सत्यदेव चौधरी– भारतीय काव्यशास्त्र
2. गुलायब राय– सिद्धांत और अध्ययन
3. कन्हैया लाल पोद्दार– अलंकार मंजरी
4. डॉ० शोभाकांत मिश्र– भारतीय काव्यशास्त्र

◆◆◆

अलङ्कार

पाठ-संरचना

12.1.1 शब्दालंकार

यमक : लक्षण और दृष्टान्त

श्लेष : लक्षण और दृष्टान्त

अभंग श्लेष

सभंग श्लेष

12.1.2 अर्थालङ्कार

उपमा : लक्षण और दृष्टान्त

रूपक : लक्षण और दृष्टान्त

उत्प्रेक्षा : लक्षण और दृष्टान्त

भ्रांतिमान् : लक्षण और दृष्टान्त

अतिशयोक्ति : लक्षण और दृष्टान्त

विरोधाभास : लक्षण और दृष्टान्त

विभावना : लक्षण और दृष्टान्त

असंगति : लक्षण और दृष्टान्त

12.1.1 शब्दालंकार

जब अलंकार शब्द पर आश्रित रहता है, तब उसे शब्दालंकार कहा जाता है। इसलिए, शब्द के बदल जाने से उस अलंकार का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ 'रहिमन पानी राखिए' के बदले 'रहिमन जल राखिए' कर देने से अलंकार ही नहीं रह जाएगा।

यमक : यमक वह शब्दालंकार है, जिसमें समरूप वर्ण-विन्यास के चमत्कार से विभिन्न अर्थ प्रदर्शित किया जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने यमक को इस प्रकार परिभाषित किया है : 'सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजन संहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्ति : यमकं विनिगद्यते ।।' – (साहित्यदर्पण)

यमक की उक्त परिभाषा में दो बातें ध्यातव्य हैं :

(क) स्वर व्यंजन समुदाय की क्रमशः आवृत्ति और

(ख) सार्थक वर्ण रहने पर अर्थ-भिन्नता।

उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है :

'हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन ।' बिहारी-सतसई यहाँ 'हरिनी के' और 'हरि नीके' ये नैन' में वर्ण-विन्यास का चमत्कार-अर्थ-भिन्नता के साथ वर्णों की आवृत्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। 'हरिनी के

नैनान तें' का अर्थ है हरिणी अर्थात् मृगी की आँखों से और 'हरि नीके ये नैन' का अर्थ है 'हे हरि-कृष्ण ! ये आँखें नीके' अर्थात् अधिक सुन्दर हैं। तात्पर्य यह कि मृगी की आँखें सुन्दर होती हैं, पर जिन आँखों की ओर संकेत किया जा रहा है, वे मृगी की आखों से भी अधिक सुन्दर हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त पद में उक्ति का चमत्कार है और इसलिए वह अलङ्कार है। परन्तु इससे रसानुभूति में विशेष सहायता नहीं मिलती। यही कारण है कि रसवादी-ध्वनिवादी आचार्यों-आनन्दवर्धन, विश्वनाथ आदि ने काव्य में अलंकार को प्रधान स्थान न देकर गौण स्थान ही दिया था।

यमक अलंकार के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें ध्यातव्य हैं :

(क) यमक में समान आकार वाले वर्णों की कम से कम दो बार आवृत्ति निश्चित रूप से होती है।

(ख) इसमें वर्ण-विन्यास को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है, अर्थ सौरस्य को कम।

(ग) इस अलंकार में एक ओर जहाँ शब्द-साम्य रहता है, वहीं दूसरी ओर उन शब्दों से अर्थ-भिन्नता का बोध होना भी अनिवार्य है।

(घ) यमक के अनेक भेदेपभेदों-मुख, संदेश, आवृत्ति, गर्य, संदष्टक, पुच्छ आदि की चर्चा की गई है, पर उनका विशेष महत्त्व नहीं है।

(ङ) यमक लाटानुप्रास से भिन्न अर्थात् विशिष्ट होता है, क्योंकि इसमें शब्द-साम्य रहने पर भी अर्थ-साम्य नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह अन्य अनुप्रासों से भी पृथक् रहता है। कारण यह कि यमक में स्वरों को भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जबकि अनुप्रास में ऐसा नहीं होता।

श्लेष :

श्लेष वह शब्दालंकार है, जिसमें श्लिष्ट पद (अनेकार्थक पद) के प्रयोग द्वारा अनेक अर्थों का प्रदर्शन किया जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने श्लेष की यह परिभाषा दी है :

'श्लिष्टै : पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।'

—साहित्यदर्पण

ज्ञातव्य है कि यहाँ 'श्लिष्ट' विशेषण है उस पद का, जो एक साथ अनेक अर्थों का वाचक होता है। श्लिष्ट पद अर्थात् जिस पद में अनेक अर्थों का सन्निवेश हो।

श्लेष को शब्दालंकार माना जाए या अर्थालंकार, इस बात को लेकर भी आचार्यों में मत वैभिन्न्य रहा है। आचार्य मम्मट (काव्य प्रकाश) और आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) ने श्लेष को शब्दालंकार ही माना है और वही उचित भी है। परन्तु, उद्भट जहाँ श्लेष को अर्थालंकार मानते हैं, वहीं रुय्यक श्लेष को भेदानुसार- अर्थालंकार भी मानते हैं और शब्दालंकार भी।

अभंग श्लेष को अर्थालंकार।

काव्यशास्त्रियों ने श्लेष के दो भेद बताए हैं :

1. अभंग श्लेष
2. सभंग श्लेष

1. अभंग श्लेष : इसमें अनेक अर्थ निकालने के लिए शब्दों पदों को तोड़ना नहीं पड़ता। जैसे–

'रहिमन पानी राखिए, बिना पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे, मोती मानुस चून।।'

–रहीम पदावली

इसमें 'पानी' शब्द श्लिष्ट है, जिसके तीन अर्थ यहाँ अभीष्ट हैं : 1. चमक 2. प्रतिष्ठा और 3. जल। चमक के बिना मोती का कोई मूल्य नहीं, प्रतिष्ठा के बिना मनुष्य का कोई महत्त्व नहीं और जल के बिना चूने की कोई सार्थकता नहीं। 'पानी' के तीनों अर्थ इसे तोड़े बिना ही प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए, यहाँ अयंग श्लेष है। रुय्यक अभंग श्लेष को अर्थलङ्कार मानते हैं।

2. सभंग श्लेष : सभंग श्लेष में पद अथवा पदों को भंग कर-तोड़-मरोड़ कर अभीष्ट अर्थ प्राप्त किए जाते हैं। जैसे–

'बहुरि सक्र सम बिनवो तेंही। संतत् सुरानीक हित जेही।।'

–रामचरितमानस

इसमें 'सुरानीक' श्लिष्ट पद है। इसे दो प्रकार से तोड़ा जाता है :

(क) सुर + नीक = सुरानीक अर्थात् सुरा (मदिरा) नीक (प्रिय) है जिन्हें खल को-राक्षस को मदिरा ही सबसे प्रिय लगती है।

(ख) सुर + अनीक = सुरानीक अर्थात् सुर (देवता) अनीक (सेना) वाले हैं, जो देवता की सेना इन्द्र के पास है।

अस्तु, यहाँ 'सुरानीक' के दो स्पष्ट अर्थ हुए-राक्षस और इन्द्र। रुय्यक सभंग श्लेष को ही शब्दालंकार मानते हैं।

12.1.2 अर्थालङ्कार

जब अलंकार अर्थ पर आश्रित रहता है, तब उसे अर्थालङ्कार कहते हैं। इसमें शब्द के बदल जाने से भी अलङ्कार का अस्तित्व पूर्ववत् रहता है। जैसे, 'पद-पदुम' में 'पदुम' के बदले 'कमल' पद रख देने से भी रूपक अलंकार अपनी अर्थवत्ता बनाए रखता है।

उपमा :

आचार्य मम्मट ने उपमा अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है :

'साधर्म्यमुपमा भेदे।' **–काव्यप्रकाश**

अर्थात्, साधर्म्य-समान गुण के आधार पर दो भिन्न वस्तुओं में सादृश्य-प्रतिपादन को उपमा कहते हैं।

उपमा के अंग : उपमा के स्वरूप-विश्लेषण के लिए काव्यशास्त्रियों ने इसके चार अंग बताए हैं :

1. उपमेय
2. उपमान
3. साधारण धर्म
4. सादृश्य-वाचक

1. उपमेय :

जो उपमा देने के योग्य हो, उसे उपमेय कहते हैं। जैसे, 'उसका व्यक्तित्व हिमालय के समान सुदृढ़ है' में 'व्यक्तित्व' उपमेय है, क्योंकि उसे ही हिमालय से उपमा दी गई है।

2. उपमान :

जिससे उपमा दी जाती है, उसे उपमान कहते हैं। उपमेय और उपमान में 'जो' और 'जिससे' का भेद है। 'उपमेय' का स्वरूप 'जो' का होता है और 'उपमान' का स्वरूप 'जिससे' का। जैसे– ऊपर के उदाहरण में 'हिमालय' उपमान है, क्योंकि व्यक्तित्व की उपमा उसी से दी गई है।

3. साधारण धर्म :

जिस गुण अथवा विशेषता के आधार पर दो भिन्न वस्तुओं में समानता प्रतिपादित की जाती है, उसे साधारण धर्म कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में 'सुदृढ़' साधारण धर्म है, क्योंकि व्यक्तित्व और हिमालय में उसी विशेषता– सुदृढ़ता के आधार पर सादृश्य-प्रतिपादन सम्भव हो सका है।

4. सादृश्यवाचक :

सादृश्यवाचक से तात्पर्य उस शब्द से है, जो उपमेय और उपमान में समानता दिखाने के लिए प्रयुक्त होता है। ऊपर के उदाहरण में 'समान' सादृश्यवाचक है, क्योंकि उसी के द्वारा हिमालय से व्यक्तित्व की समता प्रदर्शित की गई है। 'समान' की भाँति ही 'सदृश', 'जैसा', 'ऐसा' आदि सादृश्य-वाचक हैं, जिनका प्रयोग उपमा अलंकार में हुआ करता है।

उपमा के भेद :

आचार्यों ने उपमा के अनेक भेदोपभेदों की विवेचना की है। उपमा ही मूल अर्थालङ्कार है। उसी से अन्य अलंकारों का उद्‌भव माना जाता है। अस्तु, उसके अनन्त भेद स्वाभाविक ही हैं। फिर भी, उसके दो प्रमुख भेद माने गए हैं :

1. पूर्णोपमा
2. लुप्तोपमा

1. जब उपमा में उसके चारों अंगों का सन्निवेश रहता है, तब उसे पूर्णोपमा कहते हैं। ऊपरिनिर्दिष्ट उदाहरण– 'उसका व्यक्तित्व हिमालय के समान सुदृढ़ है।' पूर्णोपमा का सुन्दर उदाहरण है। इसमें उपमा के चारों अंग-उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और सादृश्यवाचक का सन्निवेश है।

2. जब उपमा में उसके चारों अंगों– उपमेय, उपमान, साधारणधर्म और सादृश्यवाचक में से एक या दो अथवा तीन अंगों का लोप हो, तब उसे लुप्तोपमा कहते हैं।

ज्ञातव्य है कि उपमा में उसके सभी अंगों का रहना अनिवार्य नहीं है। यदि उपमेय का लोप रहे, तो उपमेयलुप्ता, उपमान का लोप रहे, तो उपमानलुप्ता, साधारण धर्म का लोप रहे, तो साधर्म्य लुप्ता और सादृश्य-वाचक का लोप रहे, तो वाचक लुप्ता उपमा होती है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है :

'नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन वारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम, सदा छीर-सागर सयन॥' —रामचरितमानस

यहाँ उपमेय (छीरसागर सयन-विष्णु), उपमान (नीलसरोरुह) एवं साधारणधर्म (स्याम) हैं, पर सादृश्यवाचक शब्द– (इव, सा, समान, सदृश आदि) का लोप है। इसलिए, इसे वाचकलुप्ता उपमा कहते हैं। इसी प्रकार, अन्य भेदों को भी सोदाहरण स्पष्ट किया जा सकता है।

आचार्यों ने पूर्णोपमा के श्रौती और आर्थी दो भेद बताए हैं। फिर, मालोपमा, रशनोपमा, लक्ष्योपमा, समुच्चयोपमा आदि उपमा के अनेक भेद हैं। चूँकि उपमा मूल अलंकार है, इसलिए उसके अनन्त भेदोपभेद हो ही सकते हैं। परन्तु, यहाँ अतिविस्तार में जाना अनपेक्षित है।

रूपक :

जब उपमेय एवं उपमान में तादात्म्य सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है, तब उसे रूपक अलंकार कहते हैं।

वस्तुतः, रूपक में आरोप का प्राधान्य रहता है– उपमान का आरोप उपमेय में किया जाता है। जैसे–

'चरण कमल बंदौं हरिराई।'

–सूरदास

यहाँ चरण-उपमेय में कमल-उपमान का आरोप है। अर्थात् चरण और कमल में अभेद संबंध निरूपित किया गया है। कमल में जैसी कोमलता तथा लालिमा होती है, वैसी ही कोमलता और लालिमा चरण में दिखाना ही कवि का अभीष्ट है। इसलिए, यह रूपक अलंकार है।

रूपक के भेद :

रूपक के तीन प्रमुख भेद बताए गए हैं :

1. निरंग
2. सांग
3. परम्परित

1. निरंग :

निरंग रूपक से तात्पर्य है अंगों के बिना केवल उपमेय में उपमान का आरोप करना। जैसे-ऊपर के उदाहरण में केवल उपमेय– 'चरण' में 'कमल' उपमान का आरोप किया गया है।

निरंग रूपक के दो भेद किए गए हैं– शुद्ध और मालारूप। शुद्ध रूपक में जहाँ एक उपमेय में एक उपमान का आरोप होता है, वहीं मालारूप में एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप होता है।

2. सांगरूपक :

अंगों सहित उपमेय में उपमान का आरोप सांगरूपक अलंकार कहलाता है।

सांगरूपक में एक अंगी होता है और शेष उसके अंग रहते हैं। जैसे–

'बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी।।' **–जयशंकर प्रसाद**

यहाँ उषा में नागरी का आरोप अंगी है और अम्बर में पनघट एवं तारा में घट का आरोप अंग है। इस प्रकार, कुल मिलाकर यह सांगरूपक है।

3. परम्परित :

जब एक आरोप दूसरे आरोप का कारण बन जाता है, तब उसे परम्परित रूपक कहते हैं। जैसे–

'रामनाम सुन्दर करतारी। संसय-बिहग उड़ावन हारी।।' **–तुलसीदास**

इस पद में संशय में बिहग का आरोप है। पर, यह आरोप रामनाम में करताली के आरोप के कारण सार्थक है, अन्यथा संशय और बिहग में कोई सम्बध नहीं स्थापित किया जा सकता। जिस प्रकार हाथ से ताली बजाने पर पक्षी उड़ जाते हैं, उसी प्रकार रामनाम उच्चरित करते ही सभी प्रकार के संशय समाप्त हो जाते हैं।

निरंगरूपक की भाँति परम्परित रूपक के भी दो भेद किए गए हैं : शुद्ध एवं मालारूप। जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, वहाँ शुद्ध परम्परित और जहाँ दो से अधिक आरोप रहें, वहाँ मालारूप परम्परित रूपक होता है। परन्तु भेदोपभेदों का अध्ययन एक सीमा में करना ही वांछनीय है।

उत्प्रेक्षा :

आचार्य विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है :

'भवत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।' **–साहित्यदर्पण**

अर्थात्, जब उपमेय में उपमान की संभावना व्यक्त की जाती है, तब उसे उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं। जैसे–

'लता-भवन तें प्रगट भये, तेहि अवसर दोउ भाय।
निकसे मनुजुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाय।।'

–रामचरितमानस (बालकाण्ड)

इस दोहे में लता-भवन-कुञ्ज से निकले रामलक्ष्मण-उपमेय में मेघावरण को हटाकर प्रकट होने वाले दो चन्द्रों-उपमान की संभावना 'मनु'-वाचक शब्द से व्यक्त की गई है। इसलिए, यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकार के स्वरूप-विश्लेषण के सन्दर्भ में निम्नांकित बातें ध्यातव्य हैं :

(क) इसमें उपमेय-उपमान-भाव रहता भी है और नहीं भी।

(ख) उत्प्रेक्षा में सामान्यतया वाचक शब्द-मनो, मानो, मनु, जानो, जनु, ज्यों, जान पड़ता है, ऐसा लगता है, मेरे जानते, मैं समझता हूँ, इव, प्राय: निश्चय आदि रहा करते हैं, पर वे नहीं भी रह सकते हैं। जहाँ वाचक शब्द रहता है, वहाँ वाच्य उत्प्रेक्षा होती है और जब वह नहीं रहता, तब उसे प्रतीयमान उत्प्रेक्षा कहते हैं। प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

उत्प्रेक्षा के भेद : उत्प्रेक्षा के अनेक भेदोपभेद बताए गए हैं। परन्तु, यहाँ उसके चार भेदों पर विचार करना ही अभीष्ट हैं। वे चार भेद हैं :

(क) वस्तूत्प्रेक्षा
(ख) हेतूत्प्रेक्षा
(ग) फलोत्प्रेक्षा
(घ) सापह्नवोत्प्रेक्षा

(क) वस्तूत्प्रेक्षा : एक वस्तु में दूसरी वस्तु-उपमेय में उपमान की संभावना वस्तूत्प्रेक्षा कहलाती है। जैसे–

'नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखिला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग।'

–कामायनी, श्रद्धासर्ग

(ख) हेतूत्प्रेक्षा : बिना हेतु को हेतु मानना अर्थात् जहाँ जो कारण नहीं है, उसे भी कारण कहना हेतूत्प्रेक्षा है। जैसे–

'मोर-मुकुट का चन्द्रकनि, यों राजत नँदनंद।
मनु ससि सेखर के अकस, किय सेखर सत चंद ।।'

सभी जानते हैं कि भगवान् शिव के सिर पर चन्द्रमा सुशोभित है और भगवान् श्री कृष्ण सिर पर मोर-पंख धारण करते हैं। इन दोनों क्रियाओं में किसी प्रकार की ईर्ष्या कारण बनकर नहीं उपस्थित होती। परन्तु, कवि ने यह संभावना व्यक्त की है कि शिव से ईर्ष्यावश कृष्ण ने सिर पर सैकड़ों चन्द्र धारण कर लिए हैं। अतः यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है। वैसे हेतूत्प्रेक्षा के भी भेद बताए गए हैं, जिनकी चर्चा अनपेक्षित है।

(ग) फलोत्प्रेक्षा : फलोत्प्रेक्षा वहाँ होती है, जहाँ फल के नहीं रहने पर भी फल की संभावना व्यक्त की जाती है। जैसे–

'मधुप निकारन के लिए, मानो रुके निहारि।
दिनकर निज कर देत है, सतदल दलनि उघारि ।।'

यहाँ यह कहा जा रहा है कि सूर्य अपने हाथों से कमल-संपुट में बन्द भौरों को बाहर निकालने के लिए पंखुड़ियों को खोलता है। परन्तु, यह वास्तविक फल नहीं हैं। कारण यह कि सूर्योदय होने पर कमल अपने आप खिल जाते हैं। फिर भी, फल की संभावना व्यक्त करने से फलोत्प्रेक्षा है। फलोत्प्रेक्षा के भी कई भेद किए गए हैं।

(घ) सापह्नवोत्प्रेक्षा : चूँकि अपह्नुति अलंकार में निषेध करने का प्रावधान है, इसलिए जब निषेधपूर्वक संभावना व्यक्त की जाती है, तब सापह्नवोत्प्रेक्षा होती है। जैसे–

'नाहिन ये पावक प्रबल, लुएँ चलत चहुँ पास।
मानहुँ बिरह वसंत के, ग्रीषम लेत उसास ।।'

यहाँ पहले निषेध-सूचक 'नाहिन' का प्रयोग कर यह संभावना व्यक्त की जा रही है कि ग्रीष्म ऋतु में 'लू' नहीं चल रही, अपितु ऐसा लगता है कि वसंत के विरह में ग्रीष्म उष्ण उच्छवास छोड़ रहा है। विरह के क्षणों में गर्म निश्वास निकला करता है। निस्सन्देह, अद्भुत संभावना व्यक्त की गई है यह अलंकार है, तो चमत्कार होगा ही, वह जिस प्रकार भी क्यों न हो।

भ्रांतिमान् :

आचार्य रुय्यक ने भ्रांतिमान् की परिभाषा इस प्रकार दी है :

'सादृश्याद् वस्त्वन्तर प्रतीति : भ्रान्तिमान्।'

–अलंकार सर्वस्व

अर्थात्, समानता के कारण दो भिन्न वस्तुओं को एक समझ लेना भ्रान्तिमान है।

भ्रान्तिमान् का अर्थ ही है भ्रम हो जाना। तात्पर्य यह कि इस प्रकार का ज्ञान वास्तविक न होकर मिथ्या होता है। यदि अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो इस मिथ्या संसार में सम्यक् ज्ञान प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।

परन्तु, भ्रान्तिमान अलंकार का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें भ्रम उत्पन्न कर चमत्कार प्रदर्शित किया जाता है। जैसे–

'नाक का मोती अधर की क्रान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है?

–साकेत, मैथिलीशरण गुप्त

इस पद में यह दर्शाया गया है कि उर्मिला ने अपनी नाक में जो मोती का आभूषण पहन रखा है, वह उसके अधरों की लालिमा से अनार के दाने की तरह प्रतीत हो रहा है। स्पष्ट है कि उर्मिला की नाक सुग्गे की चोंच की तरह नुकीली और सुन्दर है। इसलिए, उसे देखकर घर के पाले शुक को यह भ्रम हो रहा है कि यहाँ अनार का दाना पकड़े दूसरा शुक कौन है ?

यह भ्रम निश्चय ही चमत्कारपूर्ण है, इसलिए भ्रान्तिमान् अलंकार है।

अतिशयोक्ति :

जब उपमेय के कथन के बिना उपमान द्वारा ही उसके साथ अभिन्नता प्रदर्शित की जाती है, तब उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं।

वस्तुतः, चमत्कार उत्पन्न करना ही अलंकार का मुख्य उद्देश्य होता है और यह कार्य अतिशयोक्ति द्वारा ही अधिक प्रभावक बनता है। यहीं कारण है कि अलंकार के उद्भव और विकास में अतिशयोक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः हर अलंकार में किसी–न–किसी रूप में अतिशयोक्ति रहती ही है।

आचार्यों ने अतिशयोक्ति के सात भेद बताए हैं :

1. रूपकातिशयोक्ति
2. भेदकातिशयोक्ति
3. असंबंधातिशयोक्ति
4. संबंधातिशयोक्ति
5. अक्रमातिशयोक्ति
6. अत्यन्तातिशयोक्ति
7. चपलातिशयोक्ति

रूपकातिशयोक्ति : अतिशयोक्ति का प्रधान भेद रूपकातिशयोक्ति ही है। इसमें उपमेय की चर्चा तक नहीं की जाती, केवल उपमान द्वारा उसका भी बोध हो जाता है।

जैसे–

'पल्लवराज चरनजुग सोभित गति गजराजक भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल ता पर मेरु समाने॥
मेरु, उपरि दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचिपाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तओ नहि कमल सुखाई॥ **–विद्यापति-पदावली**

यहाँ केवल उपमान का कथन है। नायिका के दोनों सुकोमल पैरों के लिए 'पल्लवराज' कमल, उसकी मस्त चाल के लिए 'गति गजराजक', गौर वर्ण मृदुलजंघा के लिए 'कनक कदलि', पतली कटि क लिए 'सिंह समारल', प्रशस्त पुष्ट वक्षस्थल के लिए 'मेरु समाने', युग उरोज के लिए नाल-विहीन 'दुई कमल फुलायल' आदि उपमानों का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह कि उपमेय को बिल्कुल छिपाकर रखा गया है और उपमान के कथन से ही नायिका के नख-शिख का अतिसुन्दर वर्णन किया गया है। इसी पद से प्रभावित होकर महाकवि सूर ने 'अदभुत एक अनूपम बाग। जुगल-कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग' लिखा था। सचमुच यह रूपकातिशयोक्ति का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है।

अतिशयोक्ति के अन्य भेदों में उपमेय को छिपाने के बदले अन्य सम्बन्धों और कारणों के रहने और न रहने से अतिशयोक्ति प्रदर्शित की जाती है। अतः, शेष सभी भेद गौण हैं। फिर भी, कुछ भेदों का विवेचन किया जा रहा है।

भेदकातिशयोक्ति : इस अलंकार का चमत्कार यह है कि भेद नहीं रहने पर भी इसके द्वारा भेद प्रदर्शित किया जाता है। जैसे–

'वह चितवन और कछु, जिसि बस होत सुजान।' यहाँ 'और कछु' के प्रयोग से चितवन-चितवन में भेद बताया गया है। किसी आँख की अतिविशिष्टता दिखाई गई है। इसलिए, यहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार है।

सम्बन्ध रहने पर सम्बन्ध नहीं बताना असम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार होता है और इसके विपरीत सम्बन्ध नहीं रहने पर सम्बन्ध दिखाना सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार कहलाता है। इसी प्रकार, अक्रमातिशयोक्ति में कारण तथा कार्य एक साथ ही बता दिया जाता है। परन्तु, इससे अधिक चमत्कार अत्यांतिशयोक्ति अलंकार में दिखाई पड़ता है, क्योंकि वहाँ कारण के पहले ही कार्य की सिद्धि बता दी जाती है। जैसे–

'राणा ने सोचा इस पार
तब तक चेतक था उस पार।' **–हल्दीघाटी**

ज्ञातव्य है कि जब अतिशयोक्ति ही करनी है, तब वह अनेक प्रकार से की जा सकती है और उसके असंख्य भेद भी होते जाएँगे।

विरोधाभास :

आचार्य अय्यय दीक्षित ने विरोधाभास अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया है :

'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।' **–कुवलयानन्द**

अर्थात्, जहाँ वास्तविक विरोध न होकर केवल उसका आभास करा देने में ही चमत्कार उत्पन्न हो जाता हो, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। जैसे–

'तंत्रीनाद कवित्तरस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े, बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।। **–बिहारी (सतसई)**

यहाँ चमत्कार यह है कि जो संगीत, काव्य, प्रेम आदि में गहरे नहीं उतरे, वे ही डूब गए– फल प्राप्ति से वंचित रहे। इसके विपरीत, जो उनमें डूबे-पूर्णरूप से लीन हुए, वे पार उतर गए-लक्ष्य-प्राप्ति में सफल हो गए।

यदि उपर्युक्त दोहे में सचमुच विरोध होता, तो अलंकार का चमत्कार ही समाप्त हो जाता। किसी विषय को उसकी गहराई में जाकर ही ठीक से समझा जा सकता है। इसी को प्रभावक ढंग से स्पष्ट करने के लिए विरोधाभास कराया गया है।

विरोधाभास अलंकार के भी दस भेदों की चर्चा की गई है। परन्तु, उन भेदों का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रह गया है। अस्तु, उनका विवेचन अनपेक्षित है।

विभावना :

आचार्य विश्वनाथ ने विभावना अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है :

'विभावना विना हेतुं कार्योंत्पत्तिर्यदुच्यते।' **–साहित्यदर्पण**

अर्थात्, जब कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति दिखाई जाती है, तब उसे विभावना अलंकार कहते हैं। जैसे–

'सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु-बिनु लिखा चितेरे।'

–विनय पत्रिका, तुलसीदास

उपर्युक्त पंक्ति में कारण का सर्वथा अभाव दिखाया गया है– चित्र के लिए न भित्ति (दीवार) है, न रंग और न ही शरीर धारी चित्रकार। अव्यक्त चित्रकार अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ने संसार रूपी चित्र का निर्माण बिना रंग-संकल्प के ही-शून्य में-माया की दीवार पर कर दिया। इससे बड़ा चमत्कार और क्या हो सकता है ? यहीं तो विभावना अलंकार का वैशिष्ट्य है।

विभावना के कई प्रकार बताए गए हैं, जैसे– प्रथम विभावना, द्वितीय विभावना, तृतीय विभावना, चतुर्थ विभावना, पंचम विभावना। इन प्रकारों का आधार माना गया है– कहीं कारण का अभाव, कहीं अपर्याप्त कारण, कहीं अकारण और कहीं विरुद्ध कारण आदि। परन्तु, ये भेद बहुत सार्थक नहीं जान पड़ते। कारण के स्वरूप-विश्लेषण से उनके भेद तो बहुत हो सकते हैं, पर उनसे अलंकार का चमत्कार बढ़ने के बदले घटने ही लगता है। जैसे–

'सीतल चंदन चंद हू लगे जरा वन गात' में विरुद्ध कारण द्वारा विभावना अलंकार का निरूपण करने की अपेक्षा विरह-व्यंजना की स्वाभाविकता को समझना ही अधिक वांछनीय है। सचमुच, काव्यशास्त्रियों ने आवश्यकता से अधिक भेदोपभेदों का विवेचन किया है।

असंगति :

आचार्य (कविराज) विश्वनाथ ने असंगति अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है :

'कार्यकारणयोभिन्नदेशतायाम् असंगति :' **–साहित्यदर्पण**

अर्थात्, जब कारण एवं कार्य में साहचर्य के अभाव में चमत्कार प्रदर्शित हो, तब उसे असंगति अलंकार कहते हैं। जैसे–

'दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर-चित-प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ।।' **–बिहारी**

इस दोहे में आदि से अन्त तक कारण कहीं और कार्य कहीं निर्दिष्ट है। जब प्रेमी-प्रेमिका की आँखें उलझती हैं, तब कायदे से उन्हें ही टूटना चाहिए, पर कुटुम्ब परिजन से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जहाँ तक जुड़ने का प्रश्न है, तो फिर अपने परिजन से ही जुड़ जाना चाहिए, पर जुड़ता है चतुर-प्रेमीजन का हृदय। इसके अतिरिक्त, गाँठ पड़नी चाहिए जोड़ में– अर्थात् प्रेमीजन के हृदय में, जबकि दुष्टों के हृदय में गाँठ पड़ जाती है। निश्चय ही, यहाँ कारण-कार्य में कहीं संगति बैठती दिखाई नहीं पड़ती। इसी में अलंकार का चमत्कार भी प्रदर्शित होता है।

आचार्यों ने असंगति अलंकार के भी भेद बताए हैं। परन्तु, उनमें कोई मौलिकता नहीं है। सबमें स्थान-भेद को ही आधार माना गया है। भेद के लिए भेद-निरूपण उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

◆◆◆

छन्द

पाठ-संरचना

13.1 छन्द : परिभाषा और स्वरूप

13.2 अध्येय छन्द

13.2.1 श्लेष : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.2 चौपाई : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.3 रोला : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.4 सोरठा : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.5 कवित्त : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.6 छप्पय : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.7 कुण्डलिया : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.8 घनाक्षरी : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.9 बरवै : लक्षण और दृष्टान्त

13.2.10 उल्लाला : लक्षण और दृष्टान्त

13.1 छन्द : परिभाषा और स्वरूप

जो पद-रचना मात्रा अथवा वर्ण के अनुसार सुनिश्चित यति एवं लय को ध्यान में रखकर की जाती है, उसे छन्द कहते हैं।

छन्द को काव्य का संगीत कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। जिस प्रकार ताल के अभाव में संगीत के असंयमित-असंतुलित हो जाने का भय रहता है, उसी प्रकार छन्द की उपेक्षा से पद-रचना की झंकार के विलुप्त हो जाने की आशंका बनी रहती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस खतरे की ओर बहुत पहले ही संकेत कर दिया था :

'छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग से हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।'

सच तो यह है कि काव्य छन्द-मुक्त हो ही नहीं सकता। हाँ, मुक्त छन्द में काव्य-रचना की जा सकती है। मुक्त छन्द से तात्पर्य है मात्रा अथवा वर्ण की सुनिश्चित संख्या से स्वतंत्र होकर कविता लिखना। परन्तु, 'यति' और 'लय', जो छन्द की अनुपेक्षणीय आन्तरिक विशेषताएँ हैं, उनकी उपेक्षा कर कविता लिखने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। जब गद्य में भी विराम और प्रवाह का प्रयोजन पड़ता है, तब पद्य की तो बात ही अलग है।

छन्द के स्वरूप-विश्लेषण के लिए उसके निम्नांकित प्रमुख अंगों का परिचय आवश्यक है :

1. पाद
2. मात्रा अथवा वर्ण
3. संख्या
4. क्रम
5. यति
6. लय
7. तुक (यह अनिवार्य नहीं, पर नाद-सौन्दर्य वृद्धि का साधन अवश्य है)

पाद :

पाद कहते हैं चरण को। प्रायः छन्द के चार पाद अर्थात् चरण होते हैं। चार से अधिक चरण के भी छन्द हैं। जैसे, छप्पय में छह चरण हुआ करते हैं। हर चरण में मात्राओं अथवा वर्णों की संख्या सुनिश्चित रहती है।

मात्रा :

मात्रा से तात्पर्य है ह्रस्व-दीर्घ स्वरों की गणना। ध्यातव्य है कि व्यंजनों को अलग से गिनने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मात्रा की सही गिनती के लिए निम्नांकित बातों का ज्ञान परम अपेक्षित है :

ह्रस्व स्वर में एक मात्रा होती है। जैसे, दशरथ में चार मात्राएँ हैं– 'दशरथ में ह्रस्व स्वर युक्त व्यंजन (चार) हैं।

दीर्घ स्वर या दीर्घ स्वर युक्त व्यंजन में दो मात्राएँ होती हैं। जैसे– माता में चार मात्राएँ हैं। 'आओ' में भी चार मात्राएँ हैं।

अनेक संयुक्त व्यंजनो के रहने पर भी एक ही मात्रा होती है। जैसे, 'स्त्य' में एक मात्रा है।

परन्तु, संयुक्त स्वर अथवा संयुक्त स्वर-युक्त व्यंजना के पहले के ह्रस्व स्वर या ह्रस्व-स्वर-युक्त व्यंजन में एक मात्रा की वृद्धि हो जाती है।

जैसे, अगस्त्य में चार मात्राएँ हो जाएँगी– 'स्त्य' में एक ही मात्रा है और 'अ' में भी एक ही मात्रा है, पर 'ग' में यहाँ दो मात्राएँ हो गईं, क्योंकि वह संयुक्त 'स्त्य' के पहले है।

अनुस्वार में एक मात्रा होती है, पर चन्द्र बिन्दु की कोई मात्रा नहीं होती।

विसर्ग में भी एक मात्रा होती है। दुःख में तीन मात्राएँ हैं। 'दुख' में दो मात्राएँ हैं।

वर्ण-गणना :

मात्राओं की भाँति वर्णों में भी स्वर अथवा स्वरयुक्त वर्ण ही गिने जाते हैं। व्यंजनों की गिनती अलग से नहीं की जाती। जैसे– अगस्त्य में चार मात्राएँ हैं, पर वर्ण तीन ही हैं। मात्रा-गणना में ग में दो मात्राएँ हो गई थीं, पर वर्ण में ग एक ही गिना जाएगा। इसी प्रकार, अम्लान में पाँच मात्राएँ हैं, पर वर्ण तीन ही हैं।

संख्या :

संख्या का अभिप्राय है मात्राओं अथवा वर्णों को गिनने की विधि। किस छन्द में कितनी मात्राएँ हैं अथवा उसमें कितने वर्ण हैं, इसका निश्चय संख्या द्वारा ही किया जाता है।

क्रम :

छन्द में लघु और गुरु वर्ण के स्थान-निर्धारण को क्रम कहा जाता है। अर्थात् किस छन्द में कहाँ लघु वर्ण रहे और कहाँ गुरु वर्ण रहे, इसे क्रम द्वारा सुनिश्चित किया जाता है।

लघु वर्ण से तात्पर्य है व्यंजनवर्ण में ह्रस्व स्वरों में– अ, इ, उ, ऋ में से किसी का मिला होना।

इसी प्रकार, गुरु वर्ण का अभिप्राय है, व्यंजनवर्ण में दीर्घस्वरों– आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः में से किसी का मिला होना। लघु का चिह्न (।) माना गया है, जबकि गुरू को (ऽ) चिह्न से प्रकट किया जाता है। जहाँ (।) यह चिह्न हो, वहाँ एक मात्रा होती है और जहाँ (ऽ) यह चिह्न हो, वहाँ दो मात्राएँ होती हैं। जैसे–

श्री गुरु चरन सरोज रज, निज मनु मुकुर सुधारि।
बरनौं रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फलु चारि।

इसमें प्रथम एवं तृतीय चरणों में 13-13 मात्राएँ हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में 11-11 मात्राएँ हैं अतः, यह दोहा छन्द है।

यति :

हर छन्द को पढ़ने का अलग-अलग ढंग हुआ करता है। छन्द पहले समय रुकने ठहरने का विशेष महत्त्व है। जब जहाँ ठहरा जाता है, उसे ही 'यति' कहते हैं। वाचन में विराम के वैशिष्ट्य पर ध्यान रखना अत्यावश्यक है, अन्यथा छन्द की सांगीतिक माधुर्य ही प्रकट नहीं हो सकेगा।

लय :

छन्द में प्रवाह होता है, वही उसका जीवन है, जिसे 'लय' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। पद्य और लय में समवाय सम्बन्ध है– दोनों अन्योन्याश्रय रूप में सम्बद्ध हैं। ध्यातव्य है कि केवल मात्राओं की गिनती ठीक रहने से छन्द का सही स्वरूप प्रकट नहीं होता, उसमें अपेक्षित गति भी चाहिए। ऐसा नहीं होने से पद्य पढ़ने अथवा सुनने का आनन्द नहीं मिल सकता।

तुक .

छन्द में तुक का होना अनिवार्य नहीं है। संस्कृत में अनेक काव्य अतुकान्त हैं। परन्तु, जहाँ 'तुक' के कारण काव्य का नाद-सौन्दर्य बढ़ जाता हो, वहाँ उसका प्रयोग सर्वथा वांछनीय भी है।

तुक से तात्पर्य है छन्द के विभिन्न चरणों के अन्त में समान स्वरों का प्रयोग करना। यदि यह प्रयोग सटीक है, तो कविता उससे अत्युत्कृष्ट बन जाती है और यदि उस प्रयोग में कौशल का अभाव है, तो कविता कविता न रहकर तुकबन्दी मात्र रह जाती है, जो सर्वथा अनपेक्षित है।

तुक विविध प्रकार के होते हैं। जैसे, चार पंक्तियों में से पहली दो पंक्तियों में या फिर दूसरी और चौथी पंक्तियों में अथवा चारों पंक्तियों में– यह रचनाकार की क्षमता और रचना की प्रकृति पर निर्भर है।

छन्द के लगभग एक हजार भेद बताए गए हैं। परन्तु, चालीस छन्द ही अधिक प्रचलित हैं।

सामान्यतया छन्द के दो ही भेद माने जाते हैं : 1. मात्रिक और 2. वर्णिक। जिस छन्द में मात्राओं की संख्या सुनिश्चित रहे, उसे मात्रिक और जिस छन्द में वर्णों की संख्या और क्रम निश्चित रहे, उसे वर्णिक छन्द कहते हैं।

मात्रिक छन्द और वर्णिक छन्द को पहचानने का सबसे सुगम उपाय यह है कि वर्णिक छन्दों में उनके चारों चरणों में वर्णों की संख्या और उनका क्रम समान रहता है अर्थात् लघु-गुरु का विलक्षण मेल रहता है। परन्तु, मात्रिक छन्दों में लघु-गुरु का कोई क्रम नहीं होता, केवल मात्राओं की समानता देखी जाती है।

मात्रिक एवं वर्णिक छन्दों के तीन-तीन भेद बताए गए हैं : (क) सम (ख) अर्द्धसम और (ग) विसम।

'सम' छन्द वह है, जिसमें उसके चारों चरणों की मात्राएँ अथवा उसके चारों चरणों के वर्णों की संख्या समान हो। जब छन्द के पहले एवं तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणों में मात्राएँ अथवा वर्णों की संख्या समान-समान हो, तब उसे 'अर्द्धसम' कहा जाता है। इसी प्रकार, जिस छन्द के चारों चरणों में मात्राएँ या वर्णों की संख्या असमान रहे, वह 'विसम' कहलाता है।

छन्दों को 'साधारण' और 'दण्डक' के नाम से भी जाना जाता है। यह भेद मात्राओं और वर्णों की संख्या के आधार पर किया गया है। मात्रिक छन्दों में साधारण के अन्तर्गत बत्तीस मात्राओं तक के छन्दों का सन्निवेश होता है और उससे अधिक मात्राओं के छन्द दण्डक कहलाते हैं। इसी प्रकार, वर्णिक छन्दों में छब्बीस वर्णों तक के छन्द को साधारण और उससे अधिक वर्ण के छन्द दण्डक नाम से जाने जाते हैं।

वर्णक्रम को सुनिश्चित करने के लिए आठ गण मान लिए गए हैं : यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण और सगण। एक गण में तीन वर्ण होते हैं। जैसे–

यगण– 1ऽऽ, मगण– ऽऽऽ, तगण– ऽऽ1
रगण– ऽ1ऽ, जगण– 1ऽ1, भगण– ऽ11
नगण– 111, सगण– 11ऽ

1 = एक मात्रा,
ऽ = दो मात्राएँ

13.2 अध्येय छन्द

सम्प्रति दस विवेच्य छन्द हैं : 1. दोहा, 2. चौपाई, 3. रोला, 4. सोरठा, 5. कवित्त 6. छप्पय, 7. कुण्डलिया, 8. घनाक्षरी, 9. बरवै 10. उल्लाला।

इनमें से कवित्त और घनाक्षरी वर्णिक छन्द हैं, शेष आठ मात्रिक छंद हैं।

13.2.1 दोहा :

दोहा वह मात्रिक छन्द है, जिसके प्रथम एवं तृतीय चरणों में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ। जैसे–

'राम नाम मनिछीप धरु, जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जौं चाहसि उजियार।।

–श्री रामचरितमानस 1.21

दोहा छन्द के सम्बन्ध में अन्य ध्यातव्य बातें निम्नलिखित हैं :

(क) यह छन्दों में सबसे छोटा है।

(ख) इसमें यति चरण के अन्त में होती है।

(ग) यह अर्द्धसम कोटि का मात्रिक छन्द है।

(घ) तुक सम चरणों में होती है।

(ङ) सम चरणों के अन्त में लघु होता है और विषम चरणों के आदि में जगण–1S1 नहीं होता।

13.2.2 चौपाई :

चौपाई वह मात्रिक सम छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। जैसे–

'बंदउँ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।
अमिअ मूरिमय चूरन चारू।
समन सकल भव रुज परिवारू।। **–श्री रामचरितमानस**

चौपाई के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख बातें निम्नांकित हैं :

(क) यति प्रत्येक चरण के अन्त में होती है।

(ख) पहले चरण की तुक दूसरे चरण से और तीसरे चरण की तुक चौथे चरण की तुक से मिलती है।

(ग) जगण– 1S1 एवं तगण– SS1 किसी भी चरण के अन्त में प्रयुक्त नहीं होते, क्योंकि इससे लय में बाधा पड़ती है– ज्ञातव्य है कि चरण के अन्त में 'लघु' रहने से स्वर-विस्तार नहीं हो पाता।

13.2.3 रोला :

रोला वह मात्रिक सम छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। जैसे–

'पर सहसा यह रूप देख होता है विस्मय।
आर्य लोग क्या एक समय थे ऐसे निर्भय।।
क्या हम सब जो आज बने हैं निर्बल कामी।
रहते थे स्वाधीन, समर में होकर नामी।।

रोला छन्द के सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय बातें निम्नांकित हैं :

(क) इसमें तुक पहले एवं दूसरे चरणों में तथा तीसरे और चौथे चरणों में होती है।

(ख) इसमें चार चरण होते हैं।

(ग) यति क्रमशः ग्यारह-तेरह पर होती है।

(घ) चरणान्त में क्रमशः दो 'गुरु' या दो 'लघु' होते हैं।

13.2.4. सोरठा :

सोरठा वह मात्रिक अर्द्धसम छन्द है, जिसके प्रथम एवं तृतीय चरणों में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं। जैसे–

'जो सुरमित सिधि होई, गन नायक करि बन बदन।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धिरासि सुभ गुन सदन।।'

–श्री रामचरितमानस, बालकाण्ड (शुभारम्भ संस्कृत श्लोकों के अनन्तर प्रथम सोरठा)

सोरठा छन्द के सम्बन्ध में अन्य ध्यातव्य बातें हैं :

(क) यह दोहे का उल्टा होता है।

(ख) इसमें तुक प्रथम और तृतीय चरणों में निश्चित रूप में होती है।

(ग) प्रथम एवं तृतीय चरणों में लघु प्रयुक्त होता है।

(घ) द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों के आदि में जगण–1ऽ1 का प्रयोग नहीं होता।

13.2.5 कवित्त :

कवित्त वह वर्णिक समवृत्त छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में इकत्तीस से तैंतीस वर्ण होते हैं। जैसे–

'वेद न पुरान–गानु जानौं न बिग्यानु ग्यानु,
ध्यान–धारना–समाधि–साधन–प्रबीनता।
नाहिन बिरागुण जोग जाग भाग तुलसी कें,
दयादान दूबरो हौं पाप ही की पीनता।।
लोभ–मोह–काम–कोह–दोस–कोसु मोसो कौन?
कलिहुँ जो सीखि लई मेरियै मलीनता।।
एक ही भरोसो राम! रावरो कहावत हौं,
रावरे दयालु दीनबन्धु! मेरी दीनता।।

–कवितावली, उत्तकाण्ड, 62

इसमें प्रत्येक चरण में एकत्तीस वर्ण हैं और सोलह–पन्द्रह पर मुख्य यति है। अतः, यह कवित्त का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है।

कवित्त के सम्बन्ध में अन्य मुख्य बातें निम्नांकित हैं :

(क) इसमें तुक चारों चरणों में होती है।

(ख) इसका हर अंतिम वर्ण गुरु होता है।

(ग) इसके अन्त में गुरु–लघु–ऽ1 नहीं हो सकता,

क्योंकि उससे लय के बाधित हो जाने का खतरा रहता है।

13.2.6 छप्पय :

छप्पय वह मात्रिक विषम और संयुक्त छन्द है, जिसके छह चरण होते हैं। जैसे–

'कतहुँ बिटप–भूधर उ रि परसेन बरष्षत।
कतहुँ बाजिसों बाजि मर्दि गजराज बरष्षत।
चरन चोट चटकन चकोट अरि–उर–सिर बज्जत।
बिकट कटुक बिहरत बीए बरदि जिमि गज्जत।
लंगूर लपेटत पटकि भट, जयति राम, जय! उच्चरत।
तुलसीस पवननन्दनु अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत।।'

–कवितावली, लंकाकाण्ड, 47

उपरि अंकित छप्पय में प्रथम चार चरण रोला छन्द के हैं, जिनमें चौबीस-चौबीस मात्राएँ हैं और शेष दो चरण उल्लाला छन्द के हैं, जिनमें अठाइस-अठाईस मात्राएँ हैं।

छप्पय छन्द के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख्य बातें हैं :

(क) छप्पय में उल्लाला छन्द के सम-विषम अर्थात् प्रथम-द्वितीय एवं तृतीय-चतुर्थ चरणों का योग होता है, जो प्रायः पन्द्रह + तेरह = 28 मात्राओं का हुआ करता है।

(ख) यह छन्द रोला और उल्लाला के मेल से ही बनता है, इसलिए इसे संयुक्त छन्द कहा जाता है।

13.2.7 कुण्डलिया :

कुण्डलिया छह चरणों वाला वह मात्रिक विषम संयुक्त छन्द है, जो दोहा और रोला को मिलाने से बनता है। जैसे–

'दौलत पाय न कीजिए, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को, ठाँउ न रहत निदान।।
ठाउँ न रहत निदान, जियत जग में जस लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सबही की कीजै।।
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घर तौलत।
पाहुन निसि दिन चारि, रहत सबही के दौलत।।'

कुण्डलिया छन्द के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख्य बातें निम्नांकित हैं :

(क) इसके पहले दो चरण दोहा छन्द-तेरह-ग्यारह मात्राओं के रहते हैं और अन्य चार चरण रोला छन्द ग्यारह-तेरह के होते हैं।

(ख) इसके प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं।

(ग) इसमें दोहे का चौथा चरण रोले के प्रथम चरण का पूर्वार्ध होता है। फिर, दोहे के आरम्भिक शब्द रोला छन्द के अन्त में आते हैं।

13.2.8 घनाक्षरी :

घनाक्षरी वह वर्णिक दण्डक छन्द है, जिसमें इकत्तीस वर्णों का एक चरण होता है। जैसे,

'सहज विलास हास, पिय की हुलास तजि,
दुःख के निवास प्रेम, पास पारियत हैं।' **–सेनापति**

घनाक्षरी छन्द के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख्य बातें निम्नलिखित हैं :

(क) घनाक्षरी में अक्षरों की संख्या निश्चित रहता है– इकत्तीस वर्णों का एक चरण होता है।

(ख) प्रधान यति सोलह-प्रन्दह वर्णों पर होती है।

(ग) साधारण यति आठ-आठ, आठ-सात पर हुआ करती है।

(घ) अन्तिम वर्ण गुरु होता है।

13.2.9 बरबै :

बरबै वह मात्रिक अर्द्धसम छन्द है, जिसके प्रथम एवं तृतीय चरणों में बारह-बारह मात्राएँ होती हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में सात-सात मात्राएँ जैसे–

अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार।
तिल-तिल काट रही थी, दृग-जलधार ।।

बरबै छन्द के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख्य बातें निम्नांकित हैं :

(क) इसमें प्रत्येक चरण के अन्त में यति होती है।

(ख) इसके दूसरे और चौथे चरणों के अन्त में जगण– ।ऽ।, रहता है।

13.2.10 उल्लाला :

उल्लाला वह मात्रिक अर्द्धसम छन्द है, जिसके प्रथम एवं तृतीय चरणों में पन्द्रह-पन्द्रह अथवा तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में तेरह-तेरह मात्राएँ । जैसे–

'सब भाँति सुशासित हो जहाँ, समता के सुखकार नियम।
बस उसी स्वशासित देश में, जागें हे जगदीश हम ।।'

उल्लाला छन्द के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख्य बातें हैं :

(क) इसमें तुक सम चरण में होती है।

(ख) 15-13 मात्राओं के अनुसार इसके दो भेद हो जाते हैं।

◆◆◆

कला

पाठ-संरचना

14.1.1 कला : परिभाषा और स्वरूप
14.1.2 कला के भेद
उपयोगी कला
ललित कला
14.2 ललित कला के भेद
14.2.1 वास्तुकला
14.2.2 मूर्त्तिकला
14.2.3 चित्रकला
14.2.4 संगीत कला
14.2.5 काव्य कला

14.1.1 कला : परिभाषा एवं स्वरूप

'कला' शब्द सौन्दर्यमूलक है। किसी भाव अथवा वस्तु को सुन्दर बनाने की विधि 'कला' के अन्तर्गत परिगणित होती है। आचार्य शुक्र ने ऐसी चौंसठ विधियों का विवेचन चौंसठ कलाओं के रूप में रूप में किया है। सचमुच, किसी भव्य वस्तु का अवलोकन करते ही हम उसकी प्रशंसा करने लगते हैं। कारण यह है कि उसकी कलात्मकता हमारे मन को अतिशय प्रभावित कर देती है।

मनुष्य की यह महती विशेषता मानी जाती है कि वह न केवल प्रकृति एवं समाज के साहचर्य में विभिन्न प्रकार के भावों को ग्रहण करता है, अपितु वह गृहीत प्रभावों से निर्मित संस्कारों तथा वृत्तियों को सुन्दर-से-सुन्दर रूप में अभिव्यंजित करने का भी प्रयास करता है– अपनी अभिव्यक्ति-क्षमता, अपने कला-कौशल का परिचय भी देना चाहता है।

चूँकि मनुष्य जन्मजात सौन्दर्यप्रिय प्राणी है, इसलिए अभिव्यक्ति की सुन्दरता की अपेक्षा उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ करती है। इसके साथ ही, प्राकृतिक परिवेश एवं सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप उसकी सौन्दर्य-चेतना क्रमशः विकसित होती रहती है।

'कलयति इति कला'– इस व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ से भी यही सिद्ध होता है कि सजीव एवं संयमित सौन्दर्य की सृष्टि करना ही कला का मूल्योद्देश्य होता है।

कला की एक अन्य व्युत्पत्ति यह बतायी गई है कि 'कल्यन्ते-वृद्धि प्राणन्ते मानवाः यदा सा कला।' तात्पर्य यह कि मनुष्य को सौन्दर्यवृद्धि की ओर जो अग्रसर करे, वह कला है।

अनेक भारतीयों एवं पाश्चात्य विद्वानों ने कला को विभिन्न दृष्टियों से परिभाषित किया है। भारतीय विचारकों में कालिदास, भवभूति, भामह, विश्वनाथ, वात्स्यायन, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि तथा पाश्चात्य

विचारकों में क्रोशे, कलाइव, वेल, ब्रैडले, तोल्सतोय आदि ने कला के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किए हैं, वे अधिक चर्चित रहे हैं।

कालिदास का यह कहना नितान्त युक्ति युक्त है कि रमणीय वस्तु का अवलोकन कर एवं मधुर शब्दों का श्रवण कर मन का आनन्दित हो उठना सहज स्वाभाविक है : 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् .....' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। वस्तुतः सौन्दर्य का प्रकटीकरण ही कला का मूलोद्देश्य होता है।

इसी प्रकार, भवभूति ने भी वाणी को अपनी कला कह कर-वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्' (उत्तर रामचरितम्) यह सिद्ध कर दिया है कि कला कलाकार की आत्माभिव्यक्ति हुआ करती है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो कला के सम्बन्ध में अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मत भारतीय विद्वानों के मत से बहुत मिलते-जुलते हैं। उदाहरणार्थ, क्रोशे ने लिखा है : 'All art is an expression.' अर्थात्, अभिव्यक्ति की संज्ञा कला है। इसी प्रकार, क्लाइववेल की मान्यता है कि हर कलाकृति विशिष्ट भावना की ही अभिव्यक्ति हुआ करती है : 'The objects that provoke this emotion we call works of art.'

सुगम्भीर विचारक एवं सुख्यात कलाकार रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार कला में कलाकार अपने आपको भावनात्मक स्तर पर अभिव्यंजित करता है। 'In art man reveals himself what is art ?

कला-विवेचन के सन्दर्भ में यह बात भली प्रकार समझ लेने की है कि कला ही क्षणभंगुर जीवन को अमरत्व प्रदान करती है। हेमिंल्टन का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि कलाकार अपनी अभिव्यक्ति अनुभूति को ऐसी अभिव्यक्ति प्रदान करता है कि वह सबके लिए ग्राह्य और आनन्दानुभूति का माध्यम बन जाती है। 'An artist is one who through the imposition on his particular material creates for himself and potentially for other.'

सुप्रसिद्ध विचारक आल्डन का मानना है कि कविता भी कला ही है, जिसमें मानवीय अनुभूति को अभिव्यंजित किया जाता है : 'Poetry is the art of representing human experiences.'

अस्तु, कला की एक सर्वमान्य परिभाषा यह हो सकती है कि 'जिसमें जीवन-सौंदर्य उत्कृष्टतम रूप में अभिव्यक्त हो, उसे कला कहते हैं।'

सचमुच, 'कला और संस्कृति के सन्निवेश से ही मानव-जीवन सुष्ठु, सुन्दर और श्रेष्ठ बनता है। सृष्टि में मनुष्य से सुन्दर और कुछ नहीं होता। परन्तु, मनुष्य को सबसे सुन्दर सिद्ध करने में कला और संस्कृति की ही प्रमुख भूमिका हुआ करती है। भारतीय कला और संस्कृति का वैशिष्ट्य यह है कि इससे मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है।

सुरुचि, सम्पन्नता तथा कल्पनाशीलता के साथ-साथ आध्यात्मिकता के सन्निवेश से अतिशय प्रतीकात्मक होने के कारण भारतीय कला-कौशल पुराकाल से ही श्रेष्ठता के सर्वोच्च शिखर सुप्रतिष्ठित है। जीवनन्तता ही कला की उत्कृष्टता का सर्वोत्तम परिचायक होती है– कला की आत्मा-उसकी अन्यथा विशेषता सूक्ष्मता ही है, जो आध्यात्मिकता के बिना संभव नहीं। चूँकि भौतिकता स्थूलता से सर्वथा असम्पृक्त नहीं हो सकती, इसलिए सूक्ष्म सौन्दर्य के लिए आध्यात्मिक दृष्टि अपेक्षित हो जाती है। इतना तो निश्चित है कि केवल भौतिकवादी दृष्टि से निर्मित कला जहाँ बोझिल और मृतप्राय सी प्रतीत होने लगती है, वहीं उसकी नग्नता से संस्कारशीलता के अभाव का भी द्योतन होता है।

निस्सन्देह, कला की महत्ता अर्थात् पदार्थ को प्राणवान् बनाने एवं व्यक्ति का रुचि-परिष्कार करने में निहित है। इसीसे भारत में कला-निर्माण और प्राणप्रतिष्ठा में सदा से अभिन्न सम्बन्ध रहा है। जिसमें प्राणों

का सहज स्पन्दन नहीं हो, उसे कला की संज्ञा से अभिहित ही नहीं किया जा सकता, वह चाहे भवन, मूर्त्ति, चित्र, संगीत, नाट्य, काव्य जिस किसी से भी सम्बद्ध हो।

कला-कौशल का वास्तविक परिचय है : अगढ़ को सुघड़ बना देना, लघुता को महत्ता प्रदान करना, पराधीन को स्वाधीन कर देना, जीव को परमात्मसाक्षात्कार करा देना। आखिर जब कलाकार के कुशल करों एवं वेदविद् के पावन मन्त्रोच्चार से निर्जीव, उपेक्षित और विद्रूप प्रस्तर-खण्ड देवत्व को प्राप्त कर लेता है– 'अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः', तब भला प्राणवान् तथा क्रियावान् मनुष्य कला-संयोग से कितना महान् बन जा सकता है। भारतीय कला-साधना का प्रारम्भ से ही यही उद्देश्य रहा है।

14.1.2 कला के भेद

यद्यपि कला जीवन-जगत् की अखण्ड अभिव्यंजना होती है, तथापि उसकी सूक्ष्मता को उद्घाटित करने के उद्देश्य से उसे अनेक वर्णों में विभक्त किया गया है।

सामान्यतया विद्वानों ने कला के दो प्रमुख भेद बताए हैं :

1. उपयोगी कला 2. ललित कला।

परन्तु, कला का यह वर्गीकरण बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। उपयोगिता तथा लालित्य को सर्वथा असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि जो वस्तु उपयोगी होती है, उसमें लालित्य भी होती है और जो वस्तु ललित होती है, वह उपयोगी भी कुछ कम नहीं होती। यह बात सजीव और निर्जीव सभी पदार्थों पर लागू होती है। जैसे, लकड़ी, लोहे, मिट्टी आदि की बनी वस्तुएँ दैनिक जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी होती हैं। पर, कलात्मक होने के कारण वे बहुत सुन्दर भी दिखती हैं। इस प्रकार, वे उपयोगी के साथ-साथ ललित भी होती हैं। थाली, लोटे, कटोरे, पलंग, कुर्सी, मेज, आलमारी आदि की सुन्दरता भी देखते ही बनती हैं। ये उपयोगी चीजें भी मन को आकर्षित प्रभावित और आनन्दित करती हैं।

और तो और, ललित कलाओं में श्रेष्ठ काव्य कला जीवन के लिए कितनी उपयोगी है। काव्य जीवन को सद्विचारों की ओर अग्रसर करता हैं, व्यक्ति, समाज एवं देश में उत्साह का संचार करता है और सबसे बढ़कर मानव-मूल्यों की संरक्षित एवं सुप्रतिष्ठित बनाए रखता है। जीवन में इससे बड़ी उपयोगिता और किस कला की हो सकती हैं? तात्पर्य यह कि उपयोगिता तथा लालित्य में पारस्परिक सम्बद्धता की गुंजाइश अधिक है। इन दोनों में पृथक्ता का प्रश्न उठाना युक्ति युक्त नहीं हैं।

विद्वानों ने कुछ अन्य आधारों पर भी कला के अनेक भेद बताए हैं। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उन भेदों पर प्रकाश डालना ही हमारा अभीष्ट है।

कला का वर्गीकरण प्राचीन और आधुनिक रूप में भी किया जाता है। इस भेद को ऐतिहासिक माना जा सकता है। कला के विकासात्मक अध्ययन की दृष्टि से तो यह भेद ठीक है, पर इससे कला के तात्विक विवेचन का क्षेत्र प्रशस्त नहीं हो पाता। प्राचीन एवं नवीन समय-सापेक्ष शब्द हैं और यह क्रम बराबर लगा रहता है। जिसे आज 'नया' कहा जाता है, वही कल 'पुराना' बन जाता है।

कुछ विचारक 'सफल' तथा 'असफल' कहकर कला-भेद का विवेचन करते हैं। परन्तु, यह दृष्टिकोण किसी समीक्षक का हो सकता है, जिसे सभी कला-कृतियों पर लागू नहीं किया जा सकता। कारण यह कि इसमें वैयक्तिक दृष्टि की प्रधानता रहती है– जो कला एक की दृष्टि में असफल है, वहीं दूसरे की दृष्टि में सफल समझी जाती है।

कला-भेद का विवेचन लौकिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी किया जाता है। किसी कला-कृति

में कलाकार अधिक लोकोन्मुख हो जाता है, तो किसी कृति में ईश्वरोन्मुख अधिक जान पड़ता है। यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में सभी कलाओं में परिलक्षित होती है।

कला-भेद का सही आधार :

निस्सन्देह, हर कला अपने आप में अत्यन्त विलक्षण होती है। विलक्षणता में मूर्त्तता तथा मानसिकता का विवेचन प्रमुख बन जाता है। अर्थात्, जिस कला में कम से कम मूर्त्तता तथा अधिक-से-अधिक मानसिकता का आधार लिया जाय, वह कला क्रमशः सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम मान ली जाती है। कला-भेद का सबसे प्रचलित आधार नहीं है।

चूँकि सामान्य उपयोग में आनेवाली वस्तुओं में मूर्त्तता ही मूर्त्तता रहती है, इसलिए उपयोगी कला के भेदोपभेद पर अलग से विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

14.2 ललित कला के भेद

14.2.1 वास्तु कला :

भवन, मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर आदि के शिल्प का विवेचन वास्तुकला के अन्तर्गत किया जाता है। इनके निर्माण में ईंट, पत्थर, लोहा, इस्पात, चाँदी, सोना, मिट्टी, लकड़ी आदि का प्रयोग होता है। ये सारे उपकरण स्थूल हैं। इसलिए, इनमें मूर्त्तता की मात्रा अधिक रहती है। अर्थात् यह कला सूक्ष्म नहीं हो सकती।

परन्तु, कलाकार के कौशल से भवों का भी अपना सौन्दर्य होता है। कहते हैं, द्वारका में श्रीकृष्ण का भवन अत्यन्त नयनाभिराम था। उसे देखकर विलक्षण आनन्दानुभूति होती थी। आज भी ताजमहल का सौन्दर्य आकर्षण का केन्द्र माना जाता है।

इतना ही नहीं, किसी भवन को देखकर- उसकी कलाकारिता से ही मानसिक स्तर पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह किस शिल्प-भारतीय वास्तु-शिल्प, यूनानी वास्तु-शिल्प अथवा इरानी वास्तु-शिल्प में ढला है।

इस प्रकार, वास्तुकला मूर्त्तता पर आधृत रहकर भी किसी-न-किसी रूप में सूक्ष्मता को भी अवश्य अभिव्यक्त करती है।

14.2.2 मूर्त्ति कला :

मूर्त्तिकला में भी स्थूल उपकरणों– बाँस, तृण, मिट्टी, पत्थर, लोहा, चाँदी, सोना आदि का ही आधार ग्रहण किया जाता है। परन्तु, 'करनी' की अपेक्षा 'छेनी' अधिक सूक्ष्म होती है। इसी से मूर्त्तिकार को तराशने और मानसिक सूक्ष्मता को प्रदर्शित करने का अवसर वास्तुशिल्पी से अधिक मिलता है। भवन की अपेक्षा मूर्त्ति में सजीवता का सन्निवेश अधिक हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि भवन भी हँसता तथा रोता हुआ अवश्य दिखाई पड़ता है, पर मूर्त्ति की भाँति उसमें मुस्कान और रूदन का भाव प्रकट करना असंभव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। तात्पर्य यह कि वास्तुकला से मूर्त्तिकला का स्तर थोड़ा ऊँचा माना जाता है।

14.2.3 चित्रकला :

चित्र सामान्यतया कागज, लकड़ी, पत्थर, भित्ति आदि पर रंग और कूची की सहायता से बनाए जाते हैं। उनमें कोण एवं रेखाओं के माध्यम से प्रकाश और दूसरी को प्रदर्शित कर सौन्दर्य का प्रकटीकरण होता है। अतएव, वास्तुकला और मूर्त्तिकला की अपेक्षा इसमें सूक्ष्मता का समावेश अधिक हो पाता है। चित्र में निश्चय ही विविध भंगमाओं को प्रदर्शित करने की गुंजाइश अधिक रहती है। यहीं कारण है कि चित्र को अक्षर-रहित काव्य भी कहा जाता है, जो उसकी उत्कृष्टता का द्योतक है।

14.2.4 संगीत कला :

संगीत 'सप्तस्वर' को ही अपना प्रमुख आधार बनाता है। स्वर की सूक्ष्मता सर्वविविदत है– वह प्रजापति के रूप में सुप्रतिष्ठित है : 'स्वरो वै प्रजापतिः' नाद को परब्रह्म का पर्याय माना गया है– 'नादब्रह्म'– (ऋग्वेद 10.11.2)। यह नाद ही विभिन्न रागों का रूप ग्रहण कर संगीत को विस्तार प्रदान करने के साथ ही अतिशय प्रभावक भी बनाता है।

भाव-विभोर करने की दृष्टि से संगीत की समकक्षता में कोई अन्य पदार्थ नहीं आ सकता। संगीत का प्रभाव न केवल मनुष्य पर पड़ता है, अपिशु पशु-पक्षी भी उससे प्रेरित प्रभावित होते देखे गए हैं। कृष्ण की वंशी-ध्वनि गाय, मृग, मोर, मेघ, नदी सबको स्वाभाविक रूप में आकर्षित करती थी। संगीत में दीपक को जला देने की और पत्थर का पिघला देने तक की क्षमता देखी गई है।

'संगीत' में गीत, वाद्य, नृत्य तीनों का एकस्थ निदर्शन होता है : 'गीतं वाद्यं चनृत्यं चत्रयं संगीतमुच्यते।'

परन्तु, सूक्ष्मता उसके हर उपकरण द्वारा प्रस्तुत 'स्वर' में ही निहित रहती है। जहाँ तक माधुर्य का प्रश्न है, संगीत काव्य को भी श्रुति-मधुर और आकर्षक बना देता है। वस्तुतः, काव्य में जो गति और लय को महत्त्व दिया गया है, वह बहुत-कुछ संगीत की ही देन है। हाँ, काव्य को संगीत पर आश्रित कर देना निश्चय ही वांछनीय नहीं है। फिर भी, ललित कलाओं में संगीत का स्थान अत्युच्च है।

14.2.5 काव्य कला :

काव्यकला का मूलाधार शब्द होता है। शब्द को छोड़कर काव्यकार और किसी साधन का प्रयोग नहीं करता। अर्थ तो अति सूक्ष्म होता ही है, शब्द भी कुछ कम सूक्ष्म नहीं होता : शब्द को ब्रह्म कहा गया है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर होता है– परम विलक्षण होता है वह। काव्य-रस को अलौकिक कहने का मूल तात्पर्य यही रहता है।

सचमुच, सूक्ष्मता की प्रधानता के कारण कलाओं में काव्यकला का स्थान सर्वोपरि है। यह निश्चित रूप से मानवीय संवेदना का अन्यतम संवाहक होता है। यदि काव्य में मानव-मूल्यों को संरक्षित एवं संवर्धित नहीं किया जाए, तो मानवता का अस्तित्व ही नहीं रहेगा– उसकी अपनी पहचान ही नहीं रह जाएगी।

मानव-जीवन की परम साधना काव्य में ही परिलक्षित होती आ रही है। अन्य कलाएँ काल-कवलित हो जाती हैं, पर काव्य सदा कालातीत ही सिद्ध होता आया है। यह निश्चित रूप से अक्षर है।

मानव-जीवन की उत्कृष्टतम उपलब्धियों का अक्षुण्ण स्रोत हैं। निस्सन्देह, रुचि-परिष्कार और संस्कार-निर्माण की जो क्षमता काव्य में है, वह अन्य कलाओं में नहीं दिखाई पड़ती।

भावनाओं की सम्यक् अभिव्यंजना काव्य में ही होती है, क्योंकि इसमें कल्पना एवं सूक्ष्मता को असीम विस्तार मिलता है तथा मूर्तता के लिए गुंजाइश नहीं के बराबर होती है। जिस काव्य में इतिवृत्तात्मकता तथा चित्रात्मकता की प्रधानता होती है, उसे उत्कृष्ट भी नहीं माना जाता।

परन्तु अन्त में इस बात का स्पष्टीकरण फिर आवश्यक प्रतीत होता है कि कलाओं में परस्पर विरोध का नहीं, सहयोग का भाव प्रबल रहता है। इसलिए, काव्यकला में चित्रकला, संगीतकला-सहित अन्य सभी कलाओं के वैशिष्ट्य का सन्निवेश स्वतः हो जाया करता है। यह भी काव्य कला के श्रेष्ठत्व का ही परिचायक है। समन्वय को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। कला, दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र आदि सबका सम्यक् समावेश काव्य में ही संभव है– वह भी अत्यन्त आकर्षक और प्रभावक रूप में।

◆◆◆

साहित्य

पाठ-संरचना

15.1.1 साहित्य : परिभाषा और स्वरूप
15.1.2 साहित्य की विधाएँ
15.2 कविता : स्वरूप-विश्लेषण
कविता और काव्य
पद्य और गद्य में (तात्त्विक) अन्तर
कल्पना और महत्त्व
आदर्श और यथार्थ
कविता : सदाचार और नीति का प्रश्न
कविता के पक्ष : भाव और कला
कविता की सम्यक् आलोचना
15.3 नाटक : स्वरूप-विश्लेषण
नाटक की परिभाषा
नाटक के तत्त्व
अभिनय और उसके भेद
रंगमंच
रंगसज्जा
दृश्यबन्ध
नाट्यकला की दृष्टि से नाटक की समीक्षा
15.4 उपन्यास : स्वरूप-विश्लेषण
उपन्यास के तत्त्व
उपन्यास की व्यापकता
उपन्यास के महत्त्व
15.5 कहानी : स्वरूप-विश्लेषण
कहानी की परिभाषा
कहानी की विशेषताएँ
कहानी के तत्त्व
कहानी की आलोचना के प्रमुख आधार

15.1.1 साहित्य : परिभाषा एवं स्वरूप

साहित्य का अर्थ है हित के साथ विद्यमान रहना। अर्थात्, जिससे सबका हित साधन हो और जो सदा सामयिक या प्रासंगिक बना रहे, उसकी संज्ञा साहित्य है। अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से साहित्य का स्वरूप-विश्लेषण इस प्रकार किया गया है : 'हितेन सह सहितः, सहितस्य भावः साहित्यम्।' वस्तुतः हितकारिता का भाव समस्त वाङ्मय में निहित हैं– विशेषकर साहित्य तो सर्वहित का प्रर्याय ही होता है।

साहित्य की दूसरी व्युत्पत्ति बताई गई है : 'साहितयोंः शब्दार्थयोंः भावः साहित्यम्।' अर्थात् शब्द और अर्थ जब सम्यक् रूप में परस्पर अनुस्यूत रहते हैं, तब वे साहित्य कहलाते हैं। इसी से आचार्य मम्मट ने 'शब्दार्थौ के साथ एकवचन 'तत्' का प्रयोग किया है– 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'– (काव्य प्रकाश, 1.4)। इसका तात्पर्य यही है कि शब्द और अर्थ के अलग-अलग रहने से साहित्य का निर्माण नहीं होता, अपितु उन दोनों के सहित अर्थात् एक साथ होने से साहित्य की सर्जना संभव होती है।

यद्यपि साहित्य-निर्माण में सकल शास्त्रों का योग होता है, नाट्य-साहित्य तो स्पष्टतः ऐसा होता ही है– 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।' (नाट्य शास्त्र, 1.11.6)। अपने समन्वित रूप में साहित्य इस दृष्टि से विलक्षण और विशिष्ट हो जाता है कि अति व्यापक स्तर पर अखण्ड रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता उसी में होती है, किसी अन्य शास्त्र में नहीं।

समाज सापेक्ष होने के कारण साहित्य का विवेचन सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी दृष्टियों से किया जाना उचित ही है, पर इसके साथ ही यह भी उचित है कि साहित्य में इन सभी शास्त्रों के तत्त्वों से परिष्कृत रूप में निर्मित सांस्कृतिक संवेदनशीलता की तीव्रता का परिशीलन किया जाए, न कि उनके बाह्य उपकरणों के आँकड़ों के आधार पर उसका महत्त्व अथवा मूल्य स्थिर किया जाए। कारण यह कि साहित्य केवल विविध प्रकार की घटना-सामग्री या सकल शास्त्रों एवं सभी दृष्टियों का आकलन न होकर उन सबकी सम्मिलित सारनिधि होता है, उसका रूप दिव्य और विलक्षण हो जाने से अप्रतिम बन जाता है, सहज संवेद्य एवं चिर आस्वाद्य होने से वह सारस्वत महत्त्व का विषय बन जाता है और चेतना के स्तर पर मानव-समुदाय का अपने शाश्वत रूप में प्रेरित प्रभावित करनेवाला होता है। निस्सन्देह, साहित्य सात्त्विक भावों एवं उदात्त विचारों से कालजयी हो जाता है।

फिर, साहित्य में आत्मा और अना[illegible]भाव दोनों का सन्निवेश रहता है। इन दोनों भावों के सम्मिलित होने से साहित्य का स्वरूप निर्मित होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि सृष्टि में जड़-चेतन दोनों ही विद्यमान रहती है। इसी से संसार में आदिकाल से आत्मभाव और अनात्मभाव दोनों परिलक्षित होते रहते हैं। आत्मभाव तभी आ पाता है, जब दृष्टि में व्यापकता आती है। साहित्य में आत्मभाव की अभिव्यक्ति से आनन्द का विस्तार होता है– उसके अध्ययन से मानव उन्नयन की ओर अग्रसर होकर जीवन को सफल-सार्थक बना लेता है। इसके विपरीत, अनात्मभाव में जड़ता की अधिकता रहती है, जिससे मनुष्य स्वार्थ-सीमित रहकर पशु-जैसा जीवन व्यतीत करने लगता है। इस प्रकार, पशु-प्रवृत्ति से ऊपर उठाने का एकमात्र साधन साहित्य है।

साहित्य का तत्त्वार्थ अर्थात् साहित्यार्थ इसलिए उत्कृष्ट होता है कि सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज में साहित्यकार का जो संस्कार बनता है, वह विशिष्ट रूप में भले ही उसका अपना जीवन-दर्शन रहता है, पर साहित्यिक कृति में अभिव्यक्त होकर वह सार्वभौम और सार्वकालिक रूप में सर्वजन संवेद्य हो जाता

है। सचमुच, साहित्य का उत्कर्ष इस बात से प्रकट होता है कि उसमें रुचि-परिष्कार का गुण विद्यमान रहता है, वह जीवन की सही दिशा में सन्धान करता है, उससे लोक-मानस सहज ही अनुप्राणित होता रहता है। 'रामचरितमानस' का साहित्यार्थ इसका अन्यतम निदर्शन है।

रसात्मक होना साहित्य का प्रकृतधर्म है। रसानुभूति ही आनन्द का पूर्णावस्था होती है। इसलिए, जिस साहित्य में रस अर्थात् आनन्द प्रदान करने की जितनी क्षमता रहती है, वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् समझा जाता है। आनन्द और रस का अनुभव साहित्येतर विषयों में भी किया जाता है। परन्तु, साहित्य-रस अथवा काव्यानन्द का यह वैशिष्ट्य है कि वह अन्यों की अपेक्षा अधिक विलक्षण होता है और यह विलक्षणता ही उसे लौकिक से अलौकिक बना देती है। निस्सन्देह, केवल साहित्य में ही वह क्षमता विद्यमान है, जिससे भय, कारुण्य, वियोग आदि सभी प्रकार के भाव आनन्दप्रद बन जाते हैं।

ज्ञातव्य है कि साहित्य के स्थायी भाव मूलतः विभिन्न प्रकार की इच्छाओं, प्रवृत्तियों, कामनाओं, मनोभावनाओं, क्रियाओं एवं संस्कारों से ही निर्मित तथा विकसित हुआ करते हैं। पर, साहित्य से बाहर वे रस-रूप में परिणत नहीं हो पाते। इसी से साहित्य की तुलना किसी अन्य शास्त्र अथवा पदार्थ से नहीं की जा सकती।

वस्तुतः साहित्य सात्त्विक भावों का अक्षय-कोष होता है। इसलिए, सत्साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता, वह सदा नवीन ही बना रहता है। इसी से सभी कालों एवं स्थानों में उसकी उपादेयता असंदिग्ध रहती है। मानवचेतना का अक्षय-आलोक होने के कारण साहित्य सभी युगों में परम कल्याणप्रद सिद्ध होता है। समाज के सही दिशा-निर्धारण में उसकी भूमिका प्रमुख हुआ करती है। यदि साहित्य न रहे, तो मानव-जीवन के स्वरूप का अभिज्ञान ही नहीं हो सकता।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उन्नति से साहित्य का प्रयोजन और बढ़ जाता है। विज्ञान बुद्धि-आश्रित रहकर सूक्ष्म तत्त्वों का अन्वेषण-विश्लेषण करता है। उसके प्रयास से जीवन-विकास के नए-नए द्वार खुलते हैं। परन्तु, उसकी सबसे बड़ी सीमा यह होती है कि उसकी प्रयोगशाला में मानवीय संवेदना का निर्माण नहीं हो सकता। इस महत् उद्देश्य की पूर्त्ति साहित्य से ही सम्भव हो पाती है। तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक विकास से मानव-समाज को साहित्य का प्रयोजन अधिक पड़ता है। इसलिए, यह कहना कि विज्ञान की प्रगति से साहित्य का महत्त्व कम हो जाता है, युक्तियुक्त नहीं है। आज विज्ञान के कारण सम्पूर्ण विश्व निश्चय ही तनाव-संकुल वातावरण में निश्वास छोड़ रहा है। ऐसी संकटापन्न स्थिति में मानव-समाज मानवीय संस्कृति की पीयूषधारा से परिपूर्ण साहित्य का आश्रय ग्रहण कर ही अपने को सुरक्षित रख सकता है।

साहित्य के स्वरूप पर सर्वाधिक प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व का पड़ता है। जितना परिपक्व अनुभव साहित्यकार का रहेगा, जितना स्वच्छ उसका मनोभाव रहेगा, जितना व्यापक उसका जीवन-विषयक दृष्टिकोण रहेगा, उसके द्वारा उतने ही उत्कृष्ट तथा प्रभावक साहित्य का निर्माण होगा।

चूँकि भाव एवं विचार का क्षेत्र विशाल एवं विस्तृत होता है, इसलिए साहित्य पर विदेशी प्रभाव भी पड़ ही जाता है। विशेषकर विजित देश का विजेता देश के साहित्य से अधिक प्रभावित हो जाना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। परन्तु, अंधानुकरण किसी भी क्षेत्र में उचित नहीं माना जाता। साहित्य तो महती साधना की अपेक्षा रखता है। उस पर विदेशी प्रभाव के आधिक्य से मौलिकता का ह्रास होने लगता है और उस देश की सामाजिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक चेतना धूमिल हो जाती है।

काल-विशेष की मुख्य प्रवृत्ति के अनुरूप जातीय साहित्य का निर्माण होता है। इसके लिए स्वच्छ मनोभाव तथा स्वस्थ दृष्टिकोण परम अपेक्षित है। जिससे राष्ट्र गौरवान्वित नहीं हो, उस साहित्य को जातीय

अर्थात् राष्ट्रीय साहित्य कैसे कहा जा सकता है ? सच तो यह है कि अत्यन्त सचेतन प्राणी ही सच्चा साहित्यकार हो सकता है। इसलिए, उसका निर्भय, निष्पक्ष, निर्लोभ और जागरूक रहना अनिवार्य है। तभी वह कुप्रवृत्ति से समाज और देश को बचा सकता है।

15.1.2 साहित्य की विधाएँ

साहित्य-निर्माण अनेक विधाओं-रूपों में होता है। विषय एवं भाव के अनुरूप रचना का आकार-प्रकार और उसकी शैली ढला करती है। तत्त्वतः, भाषा ही घूम-फिर कर कभी कविता का रूप धारण कर लेती है, तो कभी नाटक का, कभी उपन्यास-कहानी का तो कभी संस्मरण-रेखाचित्र का, कभी निबन्ध आलोचना का तो कभी जीवनी-यात्रावृत्तान्त का। साहित्यकार के पास भाषा को छोड़कर कोई अन्य महत्त्वपूर्ण साधन नहीं होता। वह उसी के माध्यम से अपने भावों एवं विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। साहित्य का रूप विषय तथा भाव के अतिरिक्त रचनाकार की प्रतिभा और क्षमता पर भी निर्भर है। हर रचनाकार महाकाव्य नहीं लिख सकता। यहाँ कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी-साहित्य की इन्हीं चार विधाओं पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करना अभीष्ट है।

15.2 कविता : स्वरूप-विश्लेषण

कविता पद्यात्मक रचना होती है। काव्य कहने से तो सामान्यतया पद्य एवं गद्य दोनों का बोध हो जाता है, पर कविता पद्य-बद्ध ही हुआ करती है।

पद्य और गद्य के अन्तर को स्पष्टतया समझने के लिए कुछ सूक्ष्म तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहना कि कविता में आदर्श की व्यंजना की जाती है, जबकि गद्य में यथार्थ की अभिव्यक्ति की जाती है या फिर कविता कल्पना-प्रधान होती है, पर गद्य विचार-प्रधान अथवा सभ्यता के विकास के साथ गद्य की प्रवृत्ति बढ़ती है और पद्य-रचना गौण होने लगती है, साथ ही कविता में जहाँ रमणीयता, रागात्मकता, रसात्मकता और सुष्ठुता होती है, वहीं गद्य में केवल बौद्धिकता अथवा विचारोत्तेजकता ही रहती है– ये सभी विचार आंशिक रूप से ही मान्य हो सकते हैं। इनसे पद्य और गद्य का तात्त्विक अन्तर नहीं स्पष्ट हो पाता। निस्सन्देह, गद्य भी अत्यन्त रमणीय और रस-परिपूरित हुआ करता है। 'कादम्बरी', 'अनामदास का पोथा', 'जिजीविषा'– जैसे उपन्यास इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। साथ ही, गद्य में कल्पना का भी कुछ कम योग नहीं होता। दूसरी ओर, कविता में भावना की अधिकता के साथ-साथ विचारोत्तेजकता भी प्रखर रूप में विद्यमान रहती है। 'राम की शक्तिपूजा', 'वह तोड़ती पत्थर', 'भिक्षुक' जैसी कविताएँ इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। और तो और, सभ्यता के विकास के साथ कविता भी समृद्धि की ओर ही बढ़ती गई है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि प्रमुख भाषाओं में कविता सर्वाधिक मात्रा में लिखी गई है। इसलिए, पद्य और गद्य के अन्तर को सतही रूप में नहीं स्पष्ट किया जा सकता।

कविता और गद्य रचना में तात्त्विक भेद यह है कि कविता में लय और यति सुनियोजित रहती है, जबकि गद्य में प्रवाह तथा विराम-चिह्नों के प्रति अधिक सतर्कता की अपेक्षा रहने पर भी कविता की भाँति लय और यति की योजना अनिवार्य नहीं होती। दूसरे शब्दों में, लय और यति छन्द की अनिवार्य विशेषताएँ हैं। तात्पर्य यह कि पद्य के लिए छन्द परमावश्यक है। यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण अपेक्षित है कि कविता मुक्त छन्द में हो सकती है, पर वह छन्दमुक्त अर्थात् लययति से परे कभी नहीं हो सकती। मुक्त छन्द में कविता लिखने का तात्पर्य यह है कि उसमें छन्द के बाह्य रूपों-मात्रा, वर्ण आदि की गणना अनिवार्य नहीं

रह जाती। परन्तु, ध्यान देने की बात है कि कविता लय और यति से बाहर जाकर कविता ही नहीं रह जाएगी।

कविता और गद्य में एक गौण अन्तर भावना और बुद्धि की मात्रा की दृष्टि से बताया जा सकता है। निश्चित रूप से कविता भावना-प्रधान होती है, जबकि गद्य में बौद्धिकता की अधिकता रहती है। यह सर्वथा स्वाभाविक भी है, क्योंकि भाव और विचार क्रमशः कविता और गद्य में आपेक्षित रूप में अपना विशिष्ट स्थान रखते ही हैं। हाँ, कविता में भी विचार का अभाव नहीं रहता और न ही गद्य भाव शून्य हुआ करता है। कारण यह कि भाव तथा विचार एक-दूसरे के विरोधी न होकर पारस्परिक के स्तर पर पूरक और सहचर ही होते हैं। भाव में हार्दिकता की प्रधानता रहती है और विचार में बौद्धिकता की। इन दोनों में मात्र इतना ही अन्तर होता है। इन दोनों के सम्मिलन से ही जीवन और साहित्य उत्कृष्ट बनता है। ध्यातव्य है कि हृदय-विहीन मनुष्य राक्षस बन जाता है और मस्तिष्क-विहीन हो जाने से पतन का पर्याय। सम्यक् विकास के लिए साहित्य में भी दोनों को अपेक्षित महत्त्व दिया जाता है।

कल्पना कवि की अक्षय निधि होती है, पर वही कल्पना कविता में ग्राह्य हो पाती है, जो स्वाभाविक के साथ-साथ मर्यादित भी रहती है। सत्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल होता है। इसलिए, सही कल्पना भी उससे भिन्न नहीं होती। हाँ, कवि की कल्पना अधिक कोमल, मनोहर, उदात्त और आकर्षक हुआ करती है, जिससे वास्तविकता भी अत्यन्त प्रभावक बन जाती है।

कविता के विवेचन में आदर्श और यथार्थ का प्रश्न उठाकर निरर्थक विवाद उत्पन्न करने का कोई औचित्य नहीं दिखाई पड़ता। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो कविता में जीवन का उदात्तीकरण होता है– जीवन को महान बनाना ही कवि का परम लक्ष्य हुआ करता है। इस महत् कार्य की सिद्धि तभी हो सकती है, जब जीवन-मूल्यों का संरक्षण और संवर्धन किया जाए। निस्सन्देह, तथाकथित यथार्थ से जीवन-स्तर का सही निर्धारण नहीं किया जा सकता। उन्नत और सफल जीवन उच्चाशय की अपेक्षा करता है, जिसे कविता का आदर्श कहा जाता है।

सदाचार और नीति को लेकर भी कविता को विवाद का विषय बनाया जाता रहा है। वैसे न केवल कविता के लिए, अपितु सभी साहित्यिक विधाओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जाता है। सामान्यतः सदाचार तथा नीति का विवेचन धर्म और दर्शन में किया जाता है। परन्तु, जब जीवन में सदाचार और नीति की अपेक्षा होती है, तब कविता में भी उसकी अभिव्यक्ति अनुपेक्षणीय ही हो जाती है। हाँ, कविता में कोरे उपदेश को बहुत प्रभावक और आकर्षक नहीं बनाया जा सकता। उससे कविता का सौन्दर्य बढ़ने के बदले घट ही जाएगा। यदि कवितार में सदाचार के प्रति अधिक आग्रह भी हो, नीति कथन के लिए गुंजाइश भी की जाए, तो उसे मनोरम रूप में ही संदर्भित कर उपयोगी और ग्राह्य बनाया जा सकता है। महाकवि तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' में सदाचार एवं नीति की अभिव्यंजना अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक रूप में की है– उसे विभिन्न संदर्भों में रस-रूप में व्यंजित किया है। इसी से उस महाकाव्य में सदाचार एवं नीति धर्म और दर्शन का विषय न बनकर काव्य और जीवन के स्वाभाविक अंग के रूप में अभिव्यक्त है। यही सर्वथ उचित भी है।

वस्तुतः, कविता की व्यंजक शक्ति असीम है। उसमें प्राकृतिक सौन्दर्य, जागतिक अनुभव एवं आध्यात्मिक भाव सभी अति आकर्षक रूप में अभिव्यंजित होते हैं। यह कवि के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि वह कितने विषयों एवं भावों को प्रभावक रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता है।

कविता मुख्यतः दो रूपों में प्रकट होती है– उसका एक रूप आत्माभिव्यंजक का होता है और दूसरा रूप बाह्य-विषयात्मक हुआ करता है। यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाए, तो ये दौनों रूप सर्वथा भिन्न न होकर एक-दूसरे के पूरक ही अधिक हुआ करते हैं। इन दोनों रूपों में मूल अन्तर यह होता है कि आत्माभिव्यंजक कविता में बाह्य विषय भी कवि के अपने भाव के अनुरूप अभिव्यंजित होते हैं, जबकि बाह्य-विषयात्मक कविता में कवि की भावना भी बाह्य-विषयों के अनुरूप ही अभिव्यक्त होती है। आत्माभिव्यंजक कविता में अन्तरात्मा– 'स्वान्तः सुखाय'– अपनी भावनाओं से प्राप्त होनेवाली प्रेरणा का मुख्य स्थान रहता है, जबकि बाह्य-विषयात्मक कविता में प्राकृतिक सौन्दर्य, सांसारिक प्रवृत्तियों, विविध प्रकार के रागात्मक सम्बन्धों और कृत्यों को परिष्कृत रूप में व्यंजित करने का प्रयास किया जाता है। हाँ, महान् रचनाकार का निज का व्यक्तित्व दोनों ही रूप में अपना प्रभाव अवश्य दिखाता है।

भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष का विवेचन अर्थात् वस्तु और रूप का विश्लेषण ही सामान्यतया कविता की सही समीक्षा है। निस्सन्देह, सभी कालों में समाज तथा देश के स्वरूप का सच्चा अभिव्यंजक भाव ही होता है। भाव का निर्माण प्रवृत्ति, साधना, संस्कार आदि के अनुसार हुआ करता है। फिर, भाव की सुन्दर, सार्थक और प्रभावक अभिव्यंजना के लिए कला-पक्ष का प्रयोजन पड़ता है। इसमें शब्द की साधना ही सबसे प्रमुख भूमिका निभाती है। चूँकि रस व्यंजित होता है, इसलिए रसानुभूति में सर्वाधिक योग कलात्मकता का रहता है। जब कविता की आत्मा के रूप में रस की व्यंजना की जाती है, तब उसका अभिप्राय विलक्षणता-प्रधानता से ही होता है। रस को परमानन्द-रूप में विश्लेषित करने का तात्पर्य उसे अनन्य महत्त्व प्रदान करना ही है। फिर, रस के सम्यक् विवेचन के लिए ही उसके अंगों-भाव, अनुभाव एवं संचारी भाव तथा गुण, वृत्ति, अलंकार आदि अभिन्न और सहायक साधनों पर भी विचार किया जाता है। इस प्रकार, भाव-पक्ष के साथ कला-पक्ष का सम्यक् विवेचन भी कविता के वैशिष्ट्य को समझने के लिए आवश्यक हो जाता है।

निष्कर्षतः, साहित्य विराट् मनुष्यत्व है। कविता भी मूलतः मनुष्यता की ही अभिव्यक्ति होती है। अतएव, कविता की सम्यक् समीक्षा मनुष्यता की सही खोज ही हुआ करती है।

15.3 नाटक : स्वरूप-विश्लेषण

साहित्य की विविध विधाओं में नाटक इस दृष्टि से अन्यतम है कि दृश्य-काव्य कहलाने का गौरव इसी को प्राप्त है। वस्तुतः, नाटक में जीवन अभिनय द्वारा अभिव्यक्त होता है। इसमें अनुस्यूत प्रायः समस्त घटनाएँ एवं क्रियाकलाप सामाजिकों को प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ते हैं। सूच्यंश का समावेश नाटक में बहुत कम किया जाता है।

चूँकि नाटक में घटनाओं को विभिन्न दृश्यों में उपस्थित किया जाता है, इसलिए उसमें अनुकरण का प्रामुख्य रहता है। यहीं कारण है कि भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्याचार्यों ने नाटक में अनुकरण को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। 'नाट्यशास्त्र' (1.112) में आचार्य भरत ने 'लोकवृत्तानुकरण' के रूप में और 'Poetics' में अरस्तु ने 'an imitation' कहकर नाटक का विश्लेषण किया। इसी प्रकार, दशरूपककार धनञ्जय ने 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं', अर्थात् 'अवस्था के अनुकरण' को नाटक का प्रमुख लक्षण माना। सच तो यह है कि अभिनेताओं-अभिनेत्रियों को नाटक में विन्यस्त पात्रों, भावों, अवस्थाओं और क्रियाओं के अनुरूप ही अपने आपको प्रदर्शित करना पड़ता है। ऐसा होने से ही सामाजिक को सम्यक् रसानुभूति हो पाती है।

वैसे मौलिकता के लिए सर्वत्र गुंजाइश रहती है। अभिनेता अथवा अभिनेत्री नाटक के भावों को ध्यान में रखते हुए अपनी कला को अधिक उत्कर्ष प्रदान करे, तो और अच्छा है। प्रतिभा का सही परिचय सभी क्षेत्रों में सदा सराहनीय हुआ करता है।

'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर नाटक को साहित्य का सर्वाधिक आकर्षक रूप माना गया है। 'अबुधानां विवोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि' (नाट्यशास्त्र, 1'1.0) अर्थात् नाटक सभी लोगों के लिए बोधगम्य होने के कारण सबसे लोकप्रिय विद्या है। वस्तुतः नाटक आदि से अन्त तक सामाजिकता से सम्पृक्त साहित्य-रूप है। इसका क्षेत्र भी अतिव्यापक है। नाट्याचार्य भरत के अनुसार न तो ऐसा कोई ज्ञान है और न ही ऐसा कोई शिल्प, न तो ऐसी कोई विद्या है और न ही ऐसा कोई कला, न तो ऐसा कोई योग है और न ही ऐसा कोई कार्य, जो नाट्य-क्षेत्र में न आता हो :

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते ।।'

–नाट्यशास्त्र, (1.11.6)

नाटक को केवल 'पाठ्य' बना देना उसके स्वरूप को ही समाप्त कर देना है। ऐसा होने से वह भी 'श्रव्य-काव्य' की कोटि में ही परिगणित होने लगेगा। पाठ्यक्रम की चर्चा रंगमंच से अस्म्पृक्त हो जाने के कारण शुरू हुई। संस्कृत नाटकों का मंचन गौण विषय बन गया और मुसलमान-मुगल-काल में रंगमंच पूर्णतया उपेक्षित हो गया। हिन्दी-रंगमंच का निर्माण भी सुनियोजित ढंग से नहीं किया गया। फिर भी, नाटकों की रचना तो होती ही रही। जब नाटक रंगमंच के उपयुक्त नहीं रहे, तब पाठ्यनाटक का पक्ष प्रबल होने लगा। परन्तु, यह प्रवृत्ति नाट्यालोचन के लिए अस्वाभाविक थी। रंगमंच के बिना नाटक का सच्चा स्वरूप निर्मित नहीं हो सकता।

अभिनेता के अभाव में 'नाटक' नाम की सार्थकता नहीं रह जाती। कारण यह है कि नाटक के साथ उसके रंगमंचीय होने की शर्त अनिवार्यतः जुड़ी हुई है : 'दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्'– (नाट्यशास्त्र, 1.11)। इस प्रकार, नाटक की सफलता उसके मंचित होने पर ही सिद्ध हो पाती है। इस सम्बन्ध में जोसेफ, टी० पिले का स्पष्ट कथन है कि 'Probably, for the best appreciation, a play should be seen, read, seen again and re-read.' अर्थात् नाटक को दृश्य होना अनिवार्य है। उसे बार-बार इसलिए पढ़ा जाय कि उसका मंचन अनेक्षित रूप में हो सके।

वस्तुतः नाटक तभी नाटक कहलाता है, जब अभिनेता द्वारा वह दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होता है– उसका वाचन नाटक नहीं हो जाता : A drama is never really a story told to an audience, it is a story interpreted before an audience by a body of actors.'— (The Theory of Drama, Nicoll.)

नाटक की जीवन्तता रंगमंच पर ही देखी जाती है। रंगमंच से हटकर वह अपने पूर्ण प्रभाव को प्रकट नहीं कर सकता : 'Plays dully live in performance alone.'– (Drama) Ashley Dukes P. 28)

सच तो यह है कि नाटक लिखने का अर्थ ही है उसे रंगमंच पर अभिनीता करना : 'A drama is written to be performed'–The art of Drama, Page 7, Eades Bentely.

दर्शक ही नाटक की सफलता के सही निर्धारक होते हैं। दर्शक नाटक का अवलोकन तभी करेंगे, जब उसे रंगमंच पर अभिनीत किया जाएगा।

नाटक को अभिनीत करने के लिए अभिनेता, रंगसज्जाकार, निर्देशक, ध्वनि-प्रकाश-व्यवस्थापक एवं अन्य रंगकर्मियों की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार, नाटक केवल नाटककार तक ही सीमित नहीं रहता, उसे विभिन्न कला-मर्मज्ञों एवं सहायकां का भी प्रयोजन पड़ता है। डाइडटॉर्ट (Didetort) जैसे नाट्य समीक्षक का तो यहाँ तक कहना है कि नाटककार से अधिक महत्त्व अभिनेता का होता है : 'The essential part of play was not created by the poet at all, but was created by the actor.'

अतः, यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है कि नाटक का अभिप्राय केवल उसके लिखित अथवा मुद्रित रूप से नहीं होता, उसका सही रूप तब तक प्रकट नहीं होता है, जब वह अभिनेता, निर्देशक, दर्शक आदि सबसे सम्बद्ध हो जाता है। यहीं कारण है कि निकॉल-जैसे पाश्चात्य नाट्य समीक्षक ने मंचन के बिना 'नाटक' की संज्ञा को ही निरर्थक माना है : '..... the drama may never be taken to exist as merely a written or printed work of literature. –(The theory of Drama, Page 31)'

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो पाश्चात्य विद्वानों की उपरिअंकित सारी उक्तियाँ आचार्य भरत के 'दृश्य श्रव्यं च यद्भवेत' (नाट्यशास्त्र एवं आचार्य धनञ्जय के 'रूपदृश्यतयौच्यते' (दशरूपक, 1.7) कथनों का ही अनुमोदन करती हैं।

तत्त्वतः नाटक 'प्रयोग विज्ञान' है– व्यावहारिकता की कला है– 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' है। इसलिए उसे मंचित करने पर ही सफल अथवा असफल कहना उचित होगा। उसके बिना उसका मूलोद्देश्य ही पूरा नहीं हो पाता।

नाट्यकला की दृष्टि से किसी नाटक की विवेचना करते समय उसके तत्त्वों से अवगत रहना परमावश्यक है। इसलिए, यहाँ अत्यंन्त संक्षेप में नाटक के तत्त्वों का विश्लेषण किया जा रहा है।

15.3.1 नाटक के तत्त्व :

भारत के प्राचीन विद्वानों ने नाटक के तीन तत्त्व बताए हैं : 1. वस्तु, 2. नेता और 3. रस। इन तीनों तत्त्वों का विवेचन विशद एवं व्यापक रूप में किया गया है।

प्रस्थात उत्पाद्य एवं मिश्र एवं इन तीन प्रकार की कथावस्तु के अन्तर्गत पाँच अवस्थाओं–आरम्भावस्था, प्रयत्नावस्था, प्राक्ष्याशावस्था, नियताप्ति, फलागम, पाँच प्रकार की अर्थ प्रकृतियों– बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य ओर पञ्चसंधियों– मुखसन्धि, प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि, विमर्शसन्धि, निर्वहणसन्धि का विस्तारपूर्वक नियोजन किया गया है। इसके अतिरिक्त अर्थोपक्षेपक, विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, पताकास्थानक आदि के द्वारा नाट्यघटनाओं की सूचना देने की सुन्दर व्यवस्था की गई है। कथावस्तु को अधिकारिक एवं प्रासंगिक तथा प्रासंगिक कथा को पताका और प्रकरी के रूप में विश्लेषित करने का निर्देश किया गया है।

नाट्य कार्य-व्यापार को सघन, स्वाभाविक एवं प्रभावक बनाए रखने के उद्देश्य से संकलन-त्र पर ध्यान रखना अत्यावश्यक होता है। संकलन-त्रय से तात्पर्य है : 1. कार्य-संकलन, (Unity of action) 2. स्थल-संकलन (Unity of place) 3. काल संकलन (Unity of time).

समय-परिवर्तन के साथ-साथ आजकल अनेक नाट्यरूढ़ियाँ अपने आप समाप्त होती जा रही हैं, जैसे–पूर्वरंग, नान्दी, प्ररोचना, प्रस्तावना, सूत्रधार-नटी, नाट्य-वर्जनाएँ और भरत-वाक्य।

नेता से तात्पर्य नाटक के प्रधानपात्र से है। नायक एवं उसके भेद के साथ नायक के सहायक पात्र, खलनायक तथा अन्य पात्रों का विवेचन भी विस्तार से किया गया है।

नाटक में रस परिपाक का बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः रस के कारण ही साहित्य अन्य शास्त्रों से विलक्षण माना जाता है। रस निष्पति, साधारणीकरण आदि की चर्चा जो कविता आदि में गम्भीरतापूर्वक की जाती है, उसका मूल श्रेय नाटक को ही है।

निस्सन्देह, रसशास्त्र का प्रमुख स्रोत भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र ही है। आचार्य भरत के रससूत्र– 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगा द्रस निष्पतिः'– (नाट्यशास्त्र, 6.32) के आधार पर ही रस-निष्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हुए। सच तो यही है कि उक्त रस-सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्दों को स्पष्ट करने के क्रम में ही विभिन्न आचार्यों ने अनेक दर्शनों के अनुरूप कई रस-सिद्धान्तों की स्थापना कर दी, जिनमें उत्पत्तिवाद (भट्ट लोल्लट), अनुमतिवाद (शंकुक), मुक्तिवाद (भट्टनायक) और अभिव्यक्तिवाद (अभिनवगुप्त) की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। ज्ञातव्य है कि भट्ट लोल्लट ने मीमांसा-दर्शन का आधार ग्रहण किया और शंकुक ने न्यायदर्शन का। इसी प्रकार, भट्टनायक ने सांख्यदर्शन का आधार लिया, जबकि अभिनवगुप्त ने शैवदर्शन का। भट्टनायक के अनुसार स्थायीभाव दर्शकों के ही हृदय में विद्यमान रहता है। यहीं इनकी प्रमुख देन है। अभिनवगुप्त के विचार से 'निष्पत्ति' का अभिप्राय 'अभिव्यक्ति' है। सचमुच, नाटककार अथवा अन्य कोई साहित्यकार भावक के हृदय में विद्यमान भाव को अभिव्यक्त ही तो करता है। जो सहृदय– संवेदनायुक्त नहीं है, उस पर साहित्य का सही प्रभाव पड़ भी नहीं सकता। यह व्यावहारिक सत्य है। इसी से अभिनवगुप्त का विवेचन ही ग्राह्य हुआ।

प्राचीन नाट्याचार्यों ने संवाद का भी सुगम्भीर विवेचन किया है। सर्वश्राव्य संवाद, नियतश्राव्य (जनान्तिक-अपवारित), अश्राव्य संवाद, आकाशभाषित आदि संवाद के विविध प्रकार बताए गए हैं। इन सबसे नाट्य चिन्तन की सूक्ष्मता प्रकट होती है।

पाश्चात्य विद्वान् अरस्तू के अनुसार नाटक (ट्रेजडी) के छह तत्त्व होते हैं, 1. प्लॉट, 2. मैनर, 3. थॉट, 4. डिक्सन, 5. स्पेक्टेकल और 6. सौंग।

वर्तमान समय में जिन छह तत्त्वों के आलोक में नाट्यसमीक्षा की जाती है, वे हैं : 1. कथावस्तु, 2. चरित्रचित्रण, 3. संवाद, 4. भाषा-शैली, 5. देशकाल और 6. उद्देश्य। परन्तु, रस-तत्त्व का स्वतंत्र विवेचन परम अपेक्षित है। कारण यह कि रस के बिना साहित्य-विवेचन का मूलोद्देश्य एवं उसका अन्यतम वैशिष्ट्य ही समाप्त हो जाएगा।

नाट्य-विद्या के लिए प्राचीन काल में 'रूपक' शब्द का भी प्रचलन था। 'रूपक' का अर्थ है रूप का आरोप। यहाँ 'आरोप' नाट्य का ही बोधक है। इसलिए, आचार्य धनञ्जय (दशरूपक, 1.1) ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा था : 'रूपकं तत्समारोपात्।'

रूपक के मुख्यतः दस भेद किए गए हैं :

1. नाटक, 2. प्रकरण, 3. भाण, 4. प्रहसन, 5. डिम, 6. व्यायोग, 7. समवकार, 8. वीथी, 9. अंक, 10. ईहामृग।

'साहित्यदर्पण' में आचार्य विश्वनाथ ने रूपक के साथ-साथ अठारह प्रकार के उपरूपकों का भी परिचय दिया है। वे उपरूपक हैं : 1. नाटिका, 2. त्रोटक, 3. गोष्ठी, 4. सट्टक, 5. नाट्यरासक, 6.

प्रस्थापक, 7. उल्लास, 8. काव्य, 9. रासक, 10. प्रेंखण, 11. संलापक, 12. श्रीगदित, 13. शिल्पक, 14. विलासिका, 15. दुर्मल्लिका, 16. प्रकरणिका, 17. हल्लीश और 18. भाणिका।

नाटकों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जाता है। जैसे, 1. नाट्यवृत्ति, 2. विषय, 3. रंगमंच, 4. प्रदर्शन विधि, 5. प्रभाव, 6. रचना, 7. उद्देश्य, 8. दर्शक, 9. पात्र।

वर्तमान समय में जितने प्रकार के नाटक प्रचलित हैं, उनमें मुख्य हैं : 1. समस्यानाटक 2. स्वच्छन्दतावादी नाटक (रोमानी नाटक), 3. प्रतीकात्मक नाटक, 4. गीतनाट्य, 5. नृत्यनाट्य, 6. मूकनाट्य, 7. एकांकी, 8. रेडियोनाटक, 9. त्रासद, 10. कामद, 11. अतिनाटक (मेलोड्रामा), 12. एबसर्ड ड्रामा, 13. नुक्कड़ नाटक आदि।

15.3.2 अभिनय :

नाटक में सबसे महत्त्वपूर्ण होता है अभिनय, क्योंकि उसके समस्त रचना-विधान की सफलता मुख्यतः पात्रों के अभिनय-कौशल पर आश्रित है। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में जिन चार प्रकार के अभिनयों का निर्देश किया है, वे हैं : 1. आङ्गिक, 2. वाचिक, 3. सात्विक और 4. आहार्य।

आङ्गिक अभिनय में छह अंग-सिर, हस्त, उर, पार्श्व, कटि और पैर, छह उपांग-आँख, भौंह, नाक, अधर, कपोल और ठोढ़ी, छह प्रत्यंग-कंधा, बाहु, पीठ, उदर, ऊरू और जंघा का भावानुरूप संचालन किया जाता है। ज्ञातव्य है कि आचार्य भरत ने सिर से लेकर जंघा तक के अभिनय के अनेक प्रभेदों का निर्देश किया है।

वाचिक अभिनय में भावानुरूप वाणी की अनुक्रिया होती है। नाटक में अभिनेता अथवा अभिनेत्री का उच्चारण अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करता है। सच तो यह है कि आंगिक अभिनय को भी सही दिशा मुख्य प से वाचिक अभिनय से ही प्राप्त हुआ करती है। जैसे, उत्साह भाव से अनुरूप वाणी का प्रयोग करने से अंगों का संचालन भी उसी के अनुकरण पर होता है। यही सर्वथा स्वाभाविक भी है। वीर रस अथवा शृंगार रस के अनुकूल वाणी-व्यवहार से अंग-संचालन अपने आप उसी के अनुरूप हो जाया करता है। आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय की सफलता के लिए जिन अंगों, पर विशेष ध्यान रखने पर बल दिया है, उनमें स्वर, वर्ण, स्थान, काकु और अलंकार प्रमुख हैं। वस्तुतः हर उच्चारण का अपना अलग महत्त्व होता है और वाचिक अभिनय को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए वह नितान्त आवश्यक हो जाता है।

सात्त्विक अभिनय नाटक की सफलता का अन्यतम परिचायक होता है। कारण यह है कि संवाद में निहित भाव के अनुरूप अभिनय कर दर्शकों को तादात्म्यबोध करा देने में सबसे प्रमुख भूमिका सात्विक अभिनय की ही होती है।

'नाट्यशास्त्र' (आचार्य भरत) में स्तम्भ, स्वेद, स्वरभेद, रोमांच, वेपुथ (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय नाम के आठ सात्विक भावों का निर्देश किया गया है। इन भावों के अभिनय में मन को एकाग्र करना अनिवार्य है। तभी स्वाभाविक प्रदर्शन हो पाता है। केवल 'अश्रु' सात्विक भाव के लिए प्रसंगानुसार आनन्द, अमर्ष, धूम, अंजन, भय, शोक, निर्निमेष अवलोकन, शीत, रोग आदि कारणों को प्रत्यक्ष एवं प्रभावक रूप में दर्शाना पड़ता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के अभिनय में 'शैव्या-विलाप' ने एक-एक दर्शक को इस प्रकार विह्वल बना दिया था कि साधारणीकरण अपनी सफलता के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। सात्विक भाव का ऐसा ही अभिनय नाटक की श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

आहार्य अभिनय 'रूपक' को सही अर्थ में उसका स्वरूप प्रदान कर देता है। तत्त्वतः, यह अन्य अभिनयों का 'शोभावर्धक' माना जाता है। अभिनय का यह भेद मुख्यतः नेपथ्य में और अंशतः रंगपीठ एवं रंगशीर्ष पर प्रदर्शित होता है।

मुख्य-सज्जा, देह-रूपण, केश-विन्यास, वस्त्र, आभूषण, देश, काल, दशा, स्त्रीत्व, पुस्त्व, शील, वर्ण, जीविका आदि से सम्बद्ध विषय आहार्य अभिनय के अन्तर्गत ही परिगणित होते हैं।

वर्तमान समय में अभिनय का रूप बहुत कुछ बदल गया है। पाश्चात्य प्रभाव के कारण आंगिक और आहार्य अभिनय में विशेष अन्तर दिखाई पड़ता है। परन्तु, गुणवत्ता की दृष्टि से प्राचीन अभिनय पद्धति से आगे बढ़ने और विशिष्ट बनने की दिशा में कोई उल्लेख्य विशेषता प्रकट नहीं हो सकी है। वैसे अभिनय में मौलिकता की गुंजाइश सदा बनी रहती है। संवाद, दृश्यबन्ध, प्रकाश-प्रबन्ध, ध्वनि-व्यवस्था एवं अनेक रंगोपकरणों में नवीनता अवश्य परिलक्षित होती है।

जहाँ तक किसी नाटक की सम्यक् आलोचना का प्रश्न है, उसे किसी निश्चित ढ़ाँचे के अनुसार नहीं देखा-परखा जा सकता है। कारण यह कि हर नाटक का अपना स्वरूप होता है– उसकी निजी विशेषताएँ हुआ करती हैं। सच तो यह है कि नाटक के लिए कोई निश्चित मानदण्ड नहीं निर्धारित किया जा सकता। हाँ, कुछ ऐसे प्रतिमान अवश्य सुनिश्चित किए जा सकते हैं, जो उत्कृष्ट नाटक के लिए अपेक्षित हों। नाटक केवल नाटककार की क्षमता से ही सफल नहीं हो जाता। उसके लिए निर्देशक, अभिनेता, रंग-सज्जाकार, ध्वनि-व्यवस्थापक, प्रकाश-प्रबन्धक आदि की योग्यता तथा कुशलता भी परम अपेक्षित होती है। सबसे बढ़कर दर्शकों का सहृदय होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि नाटक सामाजिकों के लिए ही अभिनीत हुआ करता है।

नाट्यालोचन के मुख्य प्रतिमानों में सुष्ठु-सुगम्भीर नाट्यार्थ, रंगमंचीय सफलता, संघर्ष (द्वन्द्व), नाट्यरस संकलन त्रययुक्त कथावस्तु तथा प्रेरक चरित्र, प्रासंगिकता और रंगभाषा की गणना की जाती है। इन सबके उचित निर्वाह से कोई भी नाट्यकृति निश्चित ही उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत हो सकती है।

15.4 उपन्यास

स्वरूप-विश्लेषण : आधुनिक युग में साहित्य की लोकप्रिय विधाओं में उपन्यास का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इसमें जीवन को निकट से परखते हुए उसे व्यापक एवं प्रभावक रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया जाता है। इसी से अनेक उपन्यासों का स्वरूप महाकाव्यात्मक भी हो जाता है। परन्तु, महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास सर्वसाधारण के लिए अधिक बोधगम्य हुआ करता है। 'रामचरितमानस'– जैसे दो-चार महाकाव्यों को छोड़कर उपन्यास ही जन-जीवन में अधिक प्रचलित रहा है। कारण यह है कि उपन्यास को पढ़ना तथा समझना सरल होता है। साथ ही, रोचक होने से उसमें पाठक का मन भी अधिक लगता है। पढ़ने में मन का लगना ही लोकप्रियता का मूल कारण हुआ करता है।

उपन्यास के सम्बन्ध में साधारणतया दो दृष्टिकोण अपनाए जाते रहे हैं :

पहला : उपन्यास का काम मनोरंजन प्रदान करना है।

दूसरा : उपन्यास का उद्देश्य पाठकों को जीवन-यथार्थ से परिचित कराना होता है।

जहाँ तक पहले दृष्टिकोण का प्रश्न है, उपन्यास को छिछले मनोरंजन का माध्यम बना देना साहित्य

की अर्थवत्ता को कम कर देना है। हाँ, उपन्यास में अभिव्यंजित मनोरंजन जब आनन्दानुभूति प्रदान करता है, तब वह निश्चय ही स्तरीय तथा ग्राह्य बन जाता है। ज्ञातव्य है कि भारतीय काव्य में आनन्दानुभूति रसानुभूति के पर्याय के रूप में व्यवहृत है।

उपन्यास के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण अवश्य ही अत्युत्कृष्ट है। परन्तु, साहित्य के आदर्श और यथार्थ के बीच कोई नियामक रेखा नहीं खींची जा सकती। उपन्यासकार छायाचित्र खींचनेवाला कलाकार नहीं होता। वह यथार्थ जीवन को भी कलात्मक ढंग से उपस्थापित करता है, जो अधिक प्रभावक होता है। हाँ, इतना अपेक्षित है कि उपन्यास में वर्णित घटनाएँ और उसमें चित्रित पात्र विश्वसनीय हों। वायवीय प्रसंगों और अजनवी पात्रों की योजना से उपन्यास में पाठकों के मानक पर सत्प्रभाव डालने की क्षमता नहीं रह जाती। क्षणिक मनोरंजन प्रदान करने के अतिरिक्त वैसा उपन्यास कभी जीवन-निर्माण के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि जो साहित्य जीवन का स्वस्थ स्वरूप पाठकों को नहीं दे सके, उसके अध्ययन का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

उल्लेखनीय है कि कुछ उपन्यासों में यथार्थ चित्रण के नाम पर मर्यादित कथा-प्रसंगों एवं महान् चरित्रों को भी अश्लीलता, नग्नता तथा चरित्रहीनता के घेरे में लाने का अवांछनीय प्रयास किया जाता है। सूर और तुलसी के जीवन पर आधृत कुछ चर्चित उपन्यासों में भी उपन्यासकार की यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, जो सर्वथा अनुचित है। यथार्थ का अर्थ जीवन का स्तरहीन वर्णन कभी नहीं हो सकता। साहित्य में यथार्थ से अभिप्राय विश्वसनीय एवं वास्तविक वर्णन से है, न कि चरित्र-हनन को उसकी यथार्थता का प्रमाण माना जा सकता है।

समसामयिक की अभिव्यक्ति तो साहित्य की सभी विधाओं के लिए परम अपेक्षित होती है, पर उपन्यास और समय में समवाय सम्बन्ध रहता है। रिचर्ड बर्टन (Richard Burton) ने उपन्यास को परिभाषित करते हुए ठीक ही लिखा है :

'Novel is a contemporary study of society with an implied social interest and with special reference to love as a motor force simply because it is love which binds human beings in their social relations.'

उपन्यास में आद्यन्त रोचकता बनाए रखकर अध्येताओं में घटनाओं एवं पात्रों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करना उपन्यासकार की सफलता का अन्यतम लक्षण है। इसके लिए प्रयोजनानुसार प्रेम-प्रसंग की योजना की जाती है और उससे व्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों को भी सुदृढ़ किया जाता है। परन्तु, प्रेम की गर्हित रूप उपन्यास के महत्त्व को घटानेवाला होता है, बढ़ानेवाला नहीं। इस तथ्य के प्रति उपन्यासकार को सतत् सतर्कता बरतनी चाहिए। यह सच है कि उपन्यासकार आचारदर्शक नहीं होता, पर इस बात को विस्मृत कर देना भी उचित नहीं है कि रुचि-परिष्कार साहित्य की हर विद्या का परम दायित्व है।

घटना, परिस्थिति, पात्र, विचार, शैली आदि दृष्टियों से उपन्यास कई प्रकार के हो जाते हैं। सामान्यतः 5 उपन्यास के सात भेद किए गए हैं : 1. घटना प्रधान उपन्यास, 2. सामाजिक उपन्यास, 3. राजनीतिक उपन्यास, 4. ऐतिहासिक उपन्यास, 5. मनोवैज्ञानिक उपन्यास, 6. जीवनी-परक उपन्यास, 7. अस्तित्ववादी उपन्यास आदि।

प्रायः हर उपन्यास न्यूनाधिक रूप में कथात्मक होता ही है। कथा के साथ किसी-न-किसी प्रकार की घटना भी निश्चित रूप से अनुस्यूत रहती है। घटना के बिना कथा आगे बढ़ेगी ही नहीं।

उपन्यास में जब मार्मिक कथा रहती है, तब घटना-संकलन भी विश्वसनीय एवं व्यवस्थित रूप में किया जाता है केवल कौतूहलयुक्त तथा वायवीस घटना प्रसंगों को लेकर लिखा जानेवाला उपन्यास कभी तिलस्मी बन जाता है, तो कभी खूनी अथवा जासूसी। उत्सुकता का सन्निवेश वैसे उपन्यासों में अधिक-से-अधिक पाया जाता है जरूर, पर सामान्य जीवन में वह बहुत ग्राह्य नहीं हो पाता।

सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करनेवाला उपन्यास अधिक लोकप्रिय होता है। कारण यह है कि उसमें अध्येताओं को अपने वातावरण से अवगत होने का रोचक एवं प्रेरक अवसर उपलब्ध हो जाता है। ध्यातव्य है कि परिस्थितियाँ तो सबके सामने उपस्थित रहती हैं, पर उन्हें व्यापक तथा प्रभावपूर्ण रूप में उपन्यासकार ही प्रस्तुत कर पाता है। अभिव्यक्ति की विलक्षणता पाठकों के समक्ष अपूर्व रोचकता उपस्थित कर देती है।

विभिन्न सम्बन्धों एवं सन्दर्भों से जुड़ा मानव-जीवन अनेक प्रवृत्तियों से परिचालित होता रहता है। प्रेम, परोपकार, दया, करुणा, त्याग आदि सद्वृत्तियों के साथ-साथ घृणा, द्वेष, लोभ, मोह आदि असद्वृत्तियाँ भी विद्यमान रहती ही हैं। इनसे जीवन में विकास-ह्रास के अगणित चित्र उभरते रहते हैं। इस प्रकार, जीवन-संघर्ष का स्वरूप-विश्लेषण करनेवाला उपन्यास स्वभावतः अधिक पठनीय हो जाता है।

राजनीति समाज तथा अर्थव्यवस्था के साथ-साथ धर्म और संस्कृति को भी किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रभावित करती है। फिर, राजनीतिक संघर्ष का अपना अलग उपन्यास इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द-रचित 'रंगभूमि' उपन्यास को सर्वोत्तम उपन्यास माना जा सकता है।

उपन्यासकार की इतिहास-दृष्टि विलक्षण होती है। वह अपनी तीसरी आँख से विगत को वर्तमान चेतना के उपयुक्त बना देता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के चारों उपन्यास– बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा', और 'अनामदास का पोथा' इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। नाटककार जयशंकर प्रसाद ने भी 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि में इतिहास को वर्तमान और भविष्य का प्रेरक विषय बनाकर उपस्थापित किया।

जब बन्धन और मोक्ष का कारण 'मन' को ही माना गया है– 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो :' तब जीवन का यथार्थ चित्रण करने की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक उपन्यास का भी अपना अलग महत्त्व होता है। हाँ, जीवन-व्यवस्था को बिगाड़नेवाले मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को आधार मानकर उपन्यास अथवा किसी अन्य साहित्य का निर्माण निश्चय ही अवांछनीय है। रुग्ण मानसिकता को प्रश्रय देना साहित्यकार का काम नहीं होता, रुचि-परिष्कार उसका परम दायित्व होता है।

जीवन-चरित-परक उपन्यास में एक व्यक्ति को केन्द्र में रखकर अन्य स्थितियों का चित्रण किया जाता है। ऐसे उपन्यास भी बहुत प्रेरक सिद्ध होते हैं। 'शेखर-एक जीवनी', 'कालिदास' आदि उपन्यास इसी कोटि के माने जा सकते हैं।

वैसे 'अस्तित्ववाद' तो एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्थापित हुआ, पर कविता के साथ-साथ उपन्यास पर भी उसका बहुत प्रभाव पड़ा। परन्तु, उस सिद्धान्त के आधार पर जीवन का जो स्वरूप अभिचित्रित हुआ, उसमें रसात्मकता कम, अग्राह्य घटनाओं एवं अनुचित प्रसंगों की चर्चा ही अधिक हुई है। अवस्था एवं मर्यादा की उपेक्षा कर रचना जानेवाला साहित्य शाश्वत नहीं हो सकता। वैचारिक क्रान्ति का अर्थ अव्यवस्था-जन्य नियम का सूत्रपात करना नहीं होता। रचनात्मकता जब क्रान्ति का मुख्य प्रयोजन सिद्ध

होती है, तभी वह समाज में अपना स्थायी प्रभाव जमा पाती है। हिन्दी के अस्तित्ववादी उपन्यासों में मुख्य रूप से 'कटा हुआ आसमान', 'अंधेरे बंद कमरे', 'कड़ियाँ', 'क्यों फँसे ?' आदि की गणना की जाती है।

15.4.1 उपन्यास के तत्त्व :

उपन्यास का विवेचन उसके तत्त्वों के आधार पर ही अधिक स्पष्टतया से किया जा सकता है। अतएव, उपन्यास के तत्त्वों से अवगत रहना भी अपेक्षित है।

सामान्यतया उपन्यास के छह तत्त्व बताए जाते हैं : 1. वस्तु, 2. पात्र, 3. कथोपकथन, 4. देशकाल, 5. भाषा-शैली और 6. उद्देश्य। परन्तु, इन तत्त्वों के अतिरिक्त उसमें रस तत्त्व का सन्निवेश भी अनिवार्य है, क्योंकि साहित्य में रस का स्थान सर्वोपरि है।

वस्तु में समस्त घटनाओं, कार्य-व्यापारों एवं परिस्थितियों का समावेश रहता है। जिस, उपन्यास में वस्तु विस्तृत तथा संतुलित रहती है, वह अधिक उत्कृष्ट बन जाता है। इसलिए, उपन्यास का कथा-विन्यास भी अधिक-से-अधिक प्रभावक और आकर्षक होना चाहिए। तभी पात्र को अपनी प्रतिभा तथा कौशल का सही-सही परिचय देने का अवसर मिलता है।

न केवल उपन्यास में, अपितु साहित्य की समस्त विधाओं में सर्वाधिक महत्त्व पात्रों को ही दिया जाता है। यदि पात्र प्रतिभाशाली, समर्थ और कुशल न हो, तो घटना-प्रसंग शिथिल हो जाता है, जिसमें अध्येताओं पर अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता नाटक की भाँति उपन्यास में भी पात्र ही सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। सही चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार को अनुभव का धनी तथा गुणों का पारखी होना चाहिए, क्योंकि चरित्र से जटिल और कुछ नहीं होता। गहन चिन्तन-क्षमता के अभाव में उपयुक्त चरित्र की सृष्टि नहीं की जा सकती।

सुन्दर रस-व्यंजना से ही उपन्यास रोचक एवं प्रभावक के साथ-साथ शाश्वत महत्त्व का बन सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यास वस्तु, पात्र, कथोपकथन, भाषा-शैली और उद्देश्य की दृष्टि से अत्यन्त सफल हैं। परन्तु, उनमें रस-व्यंजना की अपेक्षित गहनता का अभाव है। इसलिए, वे शाश्वत बन सकेंगे, ऐसा निश्चित रूप से कहना आसान नहीं है। युग-विशेष में उनके उपन्यास जितने चर्चित रहे, अभी से उनमें कमी दिखाई पड़ने लग गई है। संस्कृति में 'कादम्बरी' उपन्यास, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक और हिन्दी में 'रामचरितमानस'– जैसे महाकाव्य समय के प्रवाह में और भी चर्चित होते जा रहे हैं। इसका मूल कारण इन रचनाओं में रस-व्यंजना की प्रधानता ही है। प्रेमचन्द जैसे महान् उपन्यासकार ने रसत्त्व पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसलिए, उनके उपन्यास अपना तत्कालीन प्रभाव दिखाकर धीरे-धीरे गौण पड़ते जा रहे हैं। सच तो यही है कि स्वाधीनता के बाद भारत में ऐसी कोई साहित्य-रचना नहीं हुई, जो सही अर्थ में कोई रचनात्मक क्रान्ति उपस्थित कर सके। हिन्दी के सभी मुर्धन्य साहित्यकार भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम से सम्बद्ध रहे– इतिहास का वह अध्याय पूर्ण हुआ और उनकी रचनाओं की चर्चा भी मंद पड़ने लगी।

कथोपकथन की योजना से उपन्यास में नाटकीय सौन्दर्य आ जाता है। चरित्र-चित्रण में भी इससे उपन्यासकार को सहायता मिलती है।

समय और स्थान के अनुसार, पात्र और रस की व्यंजना करने से उपन्यास का महत्त्व बढ़ जाता है– वह स्वाभाविक लगने के साथ-साथ अधिक रोचक और प्रभावक भी होता है। 'देशकाल' का अभिप्राय भी यही है।

भाषा-शैली रचना को रोचक और आकर्षक बनाती है। उपन्यास की भाषा सरल और मर्मस्पर्शिनी होनी चाहिए। प्रेमचन्द को उपन्यास की भाषा में ये सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। उनकी लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण उनकी भाषा-शैली का अत्यन्त सरल होना भी है।

कोई भी रचना उद्देश्य-विहीन नहीं हुआ करती। उपन्यास मनोरंजन प्रदान करने के साथ-साथ जीवन का वास्तविक चित्र पाठकों के सामने प्रभावक रूप में प्रस्तुत करता है। जैसे प्रेमचन्द का उद्देश्य अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण का कड़ा विरोध करना था और उसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली। परन्तु, उपन्यास का उद्देश्य उससे आगे भी होता है। महान उपन्यास में सार्वभौम एवं सार्वकालिक जीवन का रसात्मक उपस्थापन किया जाता है। वैसे आँचलिकता तथा समसामयिकता हर उपन्यास में न्यूनाधिक रूप में रहती ही है, पर महान् उपन्यास में ऐसा सारस्वत सन्देश रहता है, जो सभी कालों में अपना प्रभाव दिखाता है। इसके लिए व्यापक अनुभव एवं गहन चिन्तन परम अपेक्षित है। उपन्यास का उद्देश्य केवल सतही जीवन का चित्रण करना नहीं होता। सामान्यतया लोगों की यहीं धारणा रही है कि उपन्यास मन बहलाने के लिए होता है। परन्तु, ऐसी संकीर्ण भावना से उपन्यास के उद्देश्य को गौण नहीं बनाया जा सकता। आनन्द प्रदान करना और जीवन को सही दिशा की ओर मोड़ना भी उपन्यास का मुख्य उद्देश्य होता है।

नीति-तत्त्व उपन्यास-विवेचन का एक प्रमुख विवादास्पद प्रसंग रहा है। उपन्यास में नैतिकता का समावेश किया जाए अथवा नहीं? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसके सम्बन्ध में आलोचकों में मत-वैभिन्नय दिखाई पड़ता है। यदि जीवन में नैतिकता की अपेक्षा है, तो उपन्यास में भी उसका समावेश वांछनीय ही है। हाँ, उपन्यासकार नीतिशास्त्रकार निश्चय ही नहीं होता है। नीति-निर्धारण उपन्यास का विषय-क्षेत्र भी नहीं होता। उपन्यासकार उपदेशक की भूमिका भी नहीं प्रस्तुत करता। परन्तु, नैतिकता-विहीन जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जब हम मानव-मूल्य की बात करेंगे, तो उसमें नैतिकता के लिए भी स्थान अवश्य बनाना पड़ेगा, वह चाहे जिस रूप में भी हो।

निष्कर्षतः, उपन्यास में जीवन के विविध पक्षों का वर्णन रहता है और, वह वर्णन इतना विश्वसनीय एवं प्रभावपूर्ण होता है कि अध्येता आनन्द का अनुभव करते हुए जीवन-विकास की ओर अनायास ही अग्रसर हो जाता है। इसी में उपन्यास की सार्थकता भी है।

15.5 कहानी : स्वरूप-विश्लेषण

मनुष्य का जीवन ही एक रोचक कहानी होता है। इसलिए, कहानी कहने और सुनने की परम्परा अति प्राचीन है। न केवल मानव-जीवन की कथा, अपितु पशु-पक्षियों एवं पेड़-पौधों की कहानी भी मानव-समुदाय को सृष्टि के आरम्भ से ही प्रभावित करती आई है।

कहानी में जिन्दगी नजदीक से देखी जाती है। आज कहानी का स्वरूप इतना स्वस्थ-सुन्दर बन गया है कि भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने उसे अनेक प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है।

भारतीय कहानिकारों एवं आलोचकों में प्रेमचन्द, रायकृष्णदास, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, नलिन विलोचन शर्मा आदि ने कहानी की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनसे उसका स्वरूप बहुत स्पष्ट हो जाता है।

प्रेमचन्द के अनुसार 'कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है। एक क्षण में चित्र को अपने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रातभर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।' वे कहानी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आगे फिर कहते हैं : 'कहानी एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग, किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है।'

जैनेन्द्र कुमार जी कहानी में जिज्ञासा की अनन्तता का आभास पाते हैं। उन्होंने कहानी का स्वरूप विश्लेषण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है :

'यह (कहानी) तो एक भूख है, जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है।'

अज्ञेय-कहानी कला को अत्यन्त सूक्ष्म मानते हैं और उसे जीवन को सही रूप में समझने का साधन समझते हैं। उनके विचार से (छोटी) कहानी एक सूक्ष्मदर्शक यंत्र है, जिसके लिए मानवीय अस्तित्व के रूपक दृष्य खुलते हैं।'

नलिन विलोचन शर्मा ने कहानी के सम्बन्ध में अपने गम्भीर विचार अनेक स्थलों पर व्यक्त किए हैं। वे लिखते हैं : '..... कहानी क्या है कि तलवार की धार पर भागना है।' फिर, वे आगे कहते हैं : '..... कहानी उपन्यास के दूरवीक्षक के विपरीत अणुवीक्षक है।' '..... कहानीकार बिन्दु में केन्द्रित विराट् और पूर्ण सत्य का उद्घाटन करता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यही कहा जा सकता है कि यद्यपि कहानी का आकार छोटा होता है, तथापि उसमें जीवन स्पष्टतया अभिव्यक्त हो जाता है।

आकारिक लघुता की दृष्टि से कहानी के साथ-साथ लघु कहानी भी अधिक प्रचलित हो गई। वस्तुतः कहानी साहित्य की वह विधा है, जिसे पढ़ने में कम-से-कम समय लगता है।

एडगर एलन पो (अमरीका) का मानना है कि 'कहानी वह गद्य-कथा है, जिसके पढ़ने में आधे घंटे से दो घण्टे तक का समय लगना चाहिए।

'A short story is a prose narrative requiring from half an hour to one or two hour in its perusal.'

सुप्रसिद्ध कहानी-समीक्षक एच. जी. वेल्स ने तो कहानी के लिए केवल बीस मिनटों तक के समय को सर्वोत्तम माना है।

यद्यपि हडसन बीस मिनट या घंटे-भर के समय को ही कहानी के लिए पर्याप्त नहीं मानते, तथापि उनके अनुसार भी कहानी एक ही बैठक में समाप्त हो जाना चाहिए।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो कहानी की तीन विशेषताओं पर हर कहानीकार को अवश्य ध्यान देना चाहिए। वे विशेषताएँ हैं । 1. संक्षिप्तता, 2. रोचकता और 3. सरलता।

वस्तु का संक्षिप्त रूप न रहने से कहानी का स्वरूप ही निर्मित नहीं हो सकता। व्यापक फलक तो उपन्यास का हुआ करता है, क्योंकि उसमें समग्र जीवन का उपस्थापन होता है।

कहानी इतनी रोचक हो कि पाठक जबतक उसे पूर्ण रूप से पढ़ नहीं ले, तब तक अनिवार्य-से-अनिवार्य

कार्य की ओर भी ध्यान न बँटा सके।

सरलता कहानी की अन्यतम विशेषता होती है। उसमें पाठक को किसी प्रकार का आयास-प्रयास नहीं करना पड़ता। किसी से अर्थ पूछने अथवा शब्दकोश के उलटने की स्थिति में कहानी पढ़ने का आनन्द ही बाधित हो जाता है।

उपन्यास की भाँति कहानी के भी छह ही तत्त्व बताए गए हैं। वे हैं : 1. वस्तु, 2. पात्र, 3. कथोपकथन, 4. देशकाल, 5. भाषा-शैली और 6. उद्देश्य। परन्तु, रस कहानी का प्रमुख तत्त्व है। रस की उपेक्षा साहित्य की किसी भी विधा में नहीं की जा सकती।

कथा रस का अपना अलग महत्त्व है। कहानी की तो बात ही अलग है, महाकाव्य में भी कथा-रस का विशिष्ट स्थान है। 'रामचरितमानस' अपने कथा-रस के लिए विश्व-विख्यात है।

कहानी में पात्र कम हों, पर वे प्रभावक व्यक्तित्व वाले होने चाहिए। प्रभाव के लिए पात्र का बड़ा अथवा छोटा होना कोई महत्त्व नहीं रखता। छोटा पात्र भी अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है।

छोटे-छोटे कथोपकथनों की योजना से कहानी अत्यन्त आकर्षक बन जाती है– उसमें नाटकीयता आ जाती है। कथोपकथन से चरित्र-पक्ष भी प्रकाशित होता है।

स्थान और समय की निश्चितता से वस्तु-घटना को समझने में सुविधा होती है। वैसे देशकाल-मुक्त कहानी भी प्रभाव उत्पन्न करती ही है।

सुन्दर भाषा-शैली ही कहानी को अधिक रोचक, आकर्षक और लोकप्रिय बनाती है। प्रेमचन्द की कहानियाँ वस्तु के साथ-साथ भाषा शैली के कारण भी बहुत लोकप्रिय हुईं।

कहानी का उद्देश्य कम-से-कम समय में जीवन कि किसी अंग को प्रभावपूर्ण रूप में उपस्थित कर देना होता है। कभी-कभी छोटी-सी-छोटी कहानी भी उपन्यास से अधिक सफलतापूर्वक जीवन का चित्र उपस्थित कर देती है। प्रेमचन्द की कहानियाँ भी उनके उपन्यासों से कुछ कम प्रभाव नहीं उत्पन्न करतीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वही कहानी सफल हो पाती है, जिसमें जीवन अपने स्वाभाविक रूप में सरल भाषा में पूरी प्रभावकारिता के साथ अभिव्यक्त होता है।

◆◆◆

अभ्यासार्थ प्रश्न

1.1.1 अभ्यासार्थ प्रश्न

☐ लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. किन्हीं दो भारतीय आचार्यों के द्वारा दिए गए काव्य-लक्षण लिखें।
2. किन्हीं दो पाश्चात्य आचार्यों के द्वारा दिए गए लक्षण लिखें।
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट काव्य-लक्षण लिखें।

☐ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. काव्य-लक्षण से क्या समझते हैं? आपकी दृष्टि में कौन-सा काव्य-लक्षण सर्वोत्तम है? विस्तारपूर्वक लिखें।
2. भामट और मम्मट द्वारा दिए गए काव्य-लक्षणों पर विचार करें।
3. आनंदवर्धन और विश्वनाथ द्वारा दिए गए काव्य-लक्षणों पर विस्तारपूर्वक विचार करें।

☐ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'काव्यप्रकाश' किसकी कृति है?

   (क) पंडित राज जगन्नाथ (ख) मम्मट

   (ख) विश्वनाथ (घ) राजशेखर **उत्तर–** (ख)

2. 'काव्यालंकार' किसकी कृति है?

   (क) भामह (ख) दण्डी

   (ग) आनंदवर्धन (घ) विश्वनाथ **उत्तर–** (क)

3. 'साहित्यदर्पण' किसकी कृति है ?

   (क) आनंदवर्धन (ख) दण्डी

   (ग) भामट (घ) आचार्य विश्वनाथ **उत्तर–** (घ)

4. 'ध्वन्यालोक' कृति है :

   (क) विश्वनाथ की (ख) जगन्नाथ की

   (ग) आचार्या आनंदवर्धन की (घ) रामचंद्र शुक्ल की **उत्तर** –(ग)

2.1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

☐ लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. 'काव्यहेतु' से क्या समझते है? स्पष्ट करें।
2. 'काव्यहेतु' के विभिन्न भेदों का उल्लेख करें।
3. 'प्रतिभा' की परिभाषा लिखते हुए इसके स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

4. 'व्युत्पत्ति' की परिभाषा लिखते हुए इसके स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालें।
5. 'अभ्यास' की परिभाषा लिखते हुए इसके स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

□ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'काव्यहेतु' के कितने प्रभेद हैं ?

(क) दो (ख) तीन
(ख) चार (घ) पाँच **उत्तर–** (ख)

2. 'काव्य-मीमांसा' किसकी वृत्ति है ?

(क) आचार्य राजशेखर (ख) पंडितराज जगन्नाथ
(ग) आचार्य रामचंद्र शुक्ल (घ) दण्डी **उत्तर–** (क)

3.3 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. 'काव्य-प्रयोजन' का अर्थ स्पष्ट करें।
2. 'काव्य-प्रयोजन' पर संक्षेप में प्रकाश डालें।
3. क्या उपदेश देना कविता का प्रयोजन है? इस पर अपना विचार संक्षेप में रखें।

□ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. 'काव्य-प्रयोजन' से क्या समझते हैं? विभिन्न काव्य-प्रयोजनों में आप किस काव्य-प्रयोजन को सर्वाधिक उचित समझते हैं? सोदाहरण उत्तर दें।

□ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'नाट्यशास्त्र' किसकी कृति हैं ?

(क) धनंजय (ख) भरतमुनि
(ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) डॉ० दशरथ ओझा **उत्तर–** (ख)

2. कांता सम्मित उपदेश है :

(क)पुत्र की सम्मति (ख) माता की सम्मति
(ग) पत्नी की सम्मति (घ) भाई की सम्मति **उत्तर–** (ग)

4.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. विधा के अनुसार काव्य के कितने भेद हैं ? नाम लिखें।
2. दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य में अंतर बताएँ ।
3. प्रबंधकाव्य और मुक्तक काव्य का अंतर स्पष्ट करें।
4. 'रूपक' के प्रमुख भेदों की चर्चा करें।
5. श्रव्य काव्य के प्रमुख भेदों की चर्चा करें।
6. 'चंपू' काव्य से क्या समझते हैं ? स्पष्ट करें।

7. महाकाव्य और खण्ड काव्य का अंतर स्पष्ट करें।
8. 'ध्वनिकाव्य' का अर्थ स्पष्ट करें।
9. गुणीभूत व्यंग्य काव्य क्या है ? स्पष्ट करें।
10. चित्रकाव्य का स्वरूप स्पष्ट करें।

□ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'कामायनी' क्या है ?

(क) दृश्यकाव्य (ख) खण्ड काव्य
(ख) मुक्तक काव्य (घ) महाकाव्य **उत्तर– (घ)**

2. 'यशोधरा' (मैथिलीशरण गुप्त द्वारा लिखित) इनमें से क्या है ?

(क) चंपू काव्य (ख) गीतिनाट्य
(ग) गीति काव्य (घ) महाकाव्य **उत्तर– (क)**

3. बिहारी सतसई है–

(क) प्रबंध काव्य (ख) गीतिकाव्य
(ग) मुक्तक काव्य (घ) दृश्यकाव्य **उत्तर– (ग)**

5.4 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. 'शब्दशक्ति' की सोदाहरण परिभाषा लिखें ।
2. 'शब्दशक्ति' के विभिन्न भेदों पर संक्षेप में प्रकाश डालें।
3. 'लक्षणा' के प्रमुख भेदों को सोदाहरण उल्लेख करें।
4. 'व्यंजना' से क्या समझते हैं ? इसके प्रमुख भेद बताएँ।
5. 'शाब्दी व्यंजना' और 'आर्थी व्यंजना' का अंतर स्पष्ट करें।
6. 'अभिधा' और 'लक्षणा' का अंतर स्पष्ट करें।
7. 'लक्षणा' और 'व्यंजना' का अंतर स्पष्ट करें।
8. टिप्पणी लिखें :

प्रयोजनवादी लक्षणा, लक्षणामूला व्यंजना, अभिधा, शुद्धा लक्षणा, रूढ़ि लक्षणा, गोणी साध्यवसाना।

□ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'लक्षणा' के प्रमुख भेद कितने हैं ?

(क) दो (ख) चार (ग) पाँच (घ) तीन **उत्तर– (क)**

2. 'व्यंजना' के प्रमुख भेद कितने हैं ?

(क) तीन (ख) दो (ग) चार (घ) तीन **उत्तर– (ख)**

6.1.4 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. 'गुण' की परिभाषा लिखें ।
2. 'गुण' के स्वरूप पर प्रकाश डालें।
3. 'गुण' के प्रमुख भेदों को सोदाहरण लिखें।

□ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'माधुर्य' गुण होता है ?

   (क) मधुर (ख) कठोर

   (ग) अनाकर्षक (घ) इनमें से कोई नहीं **उत्तर– (क)**

2. 'प्रसाद' गुण होता है ?

   (क) मधुर (ख) कठोर

   (ग) सहज (घ) जटिल **उत्तर– (ग)**

9.3.1 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. 'रीति' की सोदाहरण परिभाषा लिखें ।
2. 'रीति' के प्रमुख भेदों का उल्लेख करें।
3. टिप्पणी लिखें :

   वैदर्भी रीति, गौडी रीति, पांचाली रीति, लाटी रीति।

□ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'पांचाली रीति' में किसकी अधिकता होती है?

   (क) ओज की (ख) सौकुमार्य की

   (ग) कठोरता की (घ) कांति की **उत्तर– (ख)**

2. 'वैदर्भी' रीति में किस गुण की अधिकता होती है ?

   (क) माधुर्य (ख) ओज

   (ग) प्रसाद (घ) इनमें से कोई नहीं **उत्तर– (क)**

12.1.3 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. 'अलंकार' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।
2. 'अलंकार' के प्रमुख भेदों की चर्चा करें।
3. 'उपमा' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।
4. 'रूपक' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।

5. 'उत्प्रेक्षा' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।
6. 'भ्रांतिमान' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।
7. 'विरोधाभास' और 'अतिशयोक्ति' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।
8. 'विभावना' और 'असंगति' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।
9. 'उपमा' और 'रूपक' का अंतर स्पष्ट करें।
10. 'यमक' की सोदाहरण परिभाषा लिखें।
11. 'श्लेष' के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

☐ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'रहिमन पानी राखिए बिनु पानी सब सून' में कौन सा अलंकार है ?

(क) श्लेष (ख) यमक

(ग) विभावना (घ) अतिशयोक्ति **उत्तर– (क)**

13.3 अभ्यासार्थ प्रश्न

☐ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. 'छंद' की परिभाषा लिखें।
2. 'छंद' के प्रमुख भेदों को लिखें।
3. लक्षण और उदाहरण लिखें :

दोहा, चौपाई, रोला, सोरठ, कदित्त, छप्पय, कुंडलिया, घनाक्षरी, बरवै, उल्लाला।

14.3 अभ्यासार्थ प्रश्न

☐ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. 'कला' की परिभाषा लिखें।
2. कला के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

अथवा, कला के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डालें।

3. 'कला' के प्रमुख भेदों का उल्लेख करें।
4. 'ललित कला' के प्रमुख भेदों की चर्चा संक्षेप में करें।
5. काव्य में संगीतकला एवं चित्रकला के सहयोग पर संक्षेप में अपने विचार लिखें।

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

☐ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. साहित्य की परिभाषा लिखें।
2. साहित्य की विभिन्न विधाओं का उल्लेख करें।
3. गद्य एवं पद्य के अंतर को स्पष्ट करें।
4. साहित्य में 'कल्पना' के महत्त्व पर प्रकाश डालें।
5. साहित्य में यथार्थ और आदर्श की स्थिति पर प्रकाश डालें।
6. कविता में नैतिकता होनी चाहिए या नहीं, इस प्रश्न पर अपना विचार संक्षेप में लिखें।

अथवा, 'कविता में नैतिकता' विषय पर एक छोटा-सा निबंध लिखें।

7. नाटक की परिभाषा देते हुए इसके विभिन्न तत्त्वों का उल्लेख करें।
8. 'रंगमंच' पर टिप्पणी लिखें।
9. 'उपन्यास' की परिभाषा लिखें और इसके विभिन्न तत्त्वों की चर्चा करें।
10. 'उपन्यास' के महत्त्व पर छोटा-सा निबंध लिखें।
11. कहानी की परिभाषा देते हुए इसके प्रमुख तत्त्वों पर संक्षेप में प्रकाश डालें।
12. कहानी की आलोचना के प्रमुख आधारों की चर्चा करें।

☐ वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'गोदान' क्या है ?
   (क) कहानी (ख) उपन्यास
   (ग) नाटक (घ) गीति **उत्तर– (ख)**
2. 'ध्रुवस्वामिनी' (प्रसाद-रचित) क्या है?
   (क) नाटक (ख) कहानी
   (ग) गीति (घ) उपन्यास **उत्तर– (क)**
3. 'महल बनाना' किस कला के अंतर्गत आता है ?
   (क) चित्रकला (ख) मूर्ति कला
   (ग) काव्य कला (घ) स्थापत्य कला **उत्तर– (घ)**
4. 'पंच परमेश्वर' (प्रेमचंद) क्या है ?
   (क) उपन्यास (ख) नाटक
   (ग) कहानी (घ) मुक्तक **उत्तर– (ग)**

◆◆◆